(घ) *'बुद्धि बिकल भइ।'* इतने परिश्रमसे किये हुए प्रिय दीपके बुझनेसे तथा स्वामीके उद्धारके उपायमें भग्न-मनोरथ होनेसे एवं झोंकोंके चपेटसे बुद्धि भी विकल हो जाती है, उसका साहस टूट जाता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता।—(शेषदत्त)।

रा० प्र०—१ भाव कि ग्रन्थि न छूट पाई, प्रकाश जाता रहा, उसपर भी अधिक विपत्ति यह पड़ गयी कि बुद्धि विकल हो गयी।—*'बिछुरी चकती चामकी तब फिरत नगन है।'*

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥ १५॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥ १६॥

अर्थ—इन्द्रियोंके देवताओंको ज्ञान नहीं अच्छा लगता (क्योंकि) विषय-भोगपर उनकी निरन्तर आसक्ति रहती है (वे एक क्षण उसका वियोग नहीं सह सकते)॥ १५॥ विषय-समीरने बुद्धिको बावली बना दिया तब फिरसे उस ज्ञानदीपकको कौन जला सकता है? अर्थात् जिसकी सामर्थ्य थी वह बावली ही है, अतः दुबारा यह जल नहीं सकता। भाव यह कि इस जन्ममें मोक्षप्राप्ति असम्भव है, जैसा कि आगे कहते हैं। एक बार दैवयोगसे न जाने कैसे इतना परिश्रम बन पड़ा था, सो बना-बनाया सब व्यर्थ हो गया तब दूसरी बार साहस कैसे हो सके?॥ १६॥

पं०—यदि कहो कि सूर्यादि तो उत्तम देवता हैं—ये जीवके कृतार्थ होनेमें क्यों विघ्न करते हैं तो उसपर कहते हैं कि *'इन्द्रिन्ह सुरन्ह……।'* अर्थात् ये उत्तम तो हैं पर इन्द्रियके स्थानोंमें वे भी विषयरस ही चाहते हैं, जैसे भले पुरुष भी युवतीके निकट चपलता ही करते हैं।

वि० त्रि०—१ *'इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई।'* ज्ञान होनेसे प्राणी विषय-विमुख हो जाता है, अतएव देवताओंके भोगमें कमी आने लगती है। सृष्टिके प्रारम्भमें विराट्की उत्पत्तिके बाद जब उसे क्षुधा-तृषासे युक्त किया, तब भूख-प्याससे दुःखी होकर इन्द्रिय-देवताओंने अपनी तृप्तिके लिये ब्रह्मदेवसे व्यष्टि शरीर रचनेकी प्रार्थना की। ब्रह्मदेवने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, कहा 'नायमलमिति' (अर्थात् यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है)। तब ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतवाला घोड़ा रचा। वे बोले कि इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा। तब मनुष्य रचा। उसे देखकर देवता प्रसन्न हुए कि इससे हमारा काम चलेगा। अतः देवता इन्द्रियोंके रूपसे यथास्थान अङ्गोंमें प्रवेश कर गये। अतएव ऐसे भोगसाधन (मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

२—*'बिषय समीर'* समीर शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'अच्छी तरह चलनेवाला'। भाव कि विषयका अन्धड़ बंद नहीं होता, चला ही करता है। ३—*'तेहि बिधि'* का भाव कि जितनी श्रद्धा, धैर्य और परिश्रमद्वारा, जिस विधिसे यह दीप जलाया गया था, उस विधिसे मग्न-मनोरथ होनेपर फिरसे साध्य नहीं है और अविधिसे जलाये हुए दीपमें **'सोऽहमस्मि'** इस अखण्ड वृत्तिकी न दीपशिखा होगी और न आत्मानुभव सुप्रकाश होगा।

दो०—तब फिरि जीव* बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥
कहत कठिन समुझत कठिन साधत† कठिन बिबेक।
होइ घुनाछर‡ न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ ११८॥

अर्थ—ज्ञानविमुख होकर तब जीव अनेक प्रकारके संसारी क्लेश भोगता है। हे पक्षिराज! हरिमाया अत्यन्त दुस्तर है, तरी नहीं जा सकती है। विवेक कहनेमें, समझनेमें और साधनेमें (भी) कठिन है। कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय तो भी उसमें अनेक विघ्न हैं॥ ११८॥

---

* सुबिबिधि। † साधन—रा० प०। ‡ घुनाक्षर—भा० दा०। घुनाछर—क०।

नोट—१ *'तब फिरि जीव……।'* (क) *'फिरि'* का भाव कि **'सोऽहमस्मि वृत्ति'** से गिरने और ज्ञानकी तरफसे मुँह मुड़कर विषयमें पुनः प्रवृत्ति होनेपर। (ख) ग्रन्थि छुटानेके समय जीवकी अखण्डवृत्ति *'सोऽहमस्मि'* में थी वह कृतार्थ हो जाता। न छूटनेसे वह ज्यों-का-त्यों विषयी जीव रह गया। अतः *'जीव पावै क्लेस'* कहा। (ग)—*'संसृति क्लेस'* अर्थात् जन्म, जरा, मरणादि अनेक क्लेश। ७९ (१) देखिये। (घ) *'अति दुस्तर—'*, यह पूर्व बहुत बार दिखाया जा चुका है कि आसुरी और दैवी माया दुस्तर है, हरिमाया अतिदुस्तर है, क्योंकि असुर और देवता भी इससे नहीं उबर सकते।

वि० त्रि०—१ *'तब फिरि'* अर्थात् जिस भाँति सात्त्विकी श्रद्धाके हृदयमें आनेके पहले अवस्था थी वही फिर हुई, इतना बड़ा प्रयास व्यर्थ गया। भाव कि अनन्तकालसे जीव ज्ञानदीपकके उद्योगमें है। अनेक जन्ममें दीप जला और बुझा, पर ग्रन्थि नहीं छूटी, संसार ज्यों-का-त्यों बना रह गया। २—*'बिहगेस'*। खगेश कहकर मायाके विघ्नका प्रकरण आरम्भ किया था, यथा—*'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया'*, अब *'बिहगेस'* कहकर प्रकरण समाप्त करते हैं।

नोट—२ *'कहत कठिन—'* इति। यहाँ *'ज्ञानदीपक'* का उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
'सुनहु तात यह अकथ कहानी, न जाइ बखानी'	१ *कहत कठिन*
समुझत बनइ न	२ *समुझत कठिन*
तब ते जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रन्थि	३ *तब फिरि जीव पावै…… क्लेस*
जदपि मृषा छूटत कठिनई	४ *हरिमाया अति दुस्तर……*
अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥	५ *होइ घुनाछर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक*

'कहत कठिन' कहकर समुझत और साधत क्रमशः कहनेका भाव कि प्रथम तो कोई इसे कह नहीं सकता, यह अवर्णनीय है, पर यदि कोई कहने-समझानेको समर्थ हो तो समझनेवालेका भी तो अभाव है, इसका समझमें आना कठिन है, और कोई समझनेवाला भी मिल जाय तो इसका साधना कठिन है। भाव कि ज्ञान केवल वाङ्मात्र है, इसके साधक देखनेमें नहीं आते। साधन क्यों कठिन है, यह विनयमें खूब कहा है तथा यहाँ श्रीमुखसे श्रीरामजीने बताया है, यथा—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥'* (४५। ३) देखिये।

वि० टी०—*'कहत कठिन समुझत कठिन—'* इति। कठोपनिषद्‌में नचिकेताने यमसे जो तीन वरदान माँगे थे उनमेंसे तीसरा यह था कि आप कृपाकर यह समझाइये कि आत्मा देहसे पृथक् है वा क्या है। इस आत्मज्ञानके जाननेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है। उत्तरमें यमने कहा—**'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥'**(अ० १ वल्ली १। २१) जिसका भाव यह है कि इस आत्मविषयपर पहिले बड़े-बड़े विद्वानोंके सन्देह और वाद हो चुके हैं; वे भी पूर्णरूपसे इसकी मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अति सूक्ष्म होनेसे दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इसमें प्रवृत्त होनेसे प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे, अतएव हे नचिकेता! तुम और कोई वरदान माँगो।

वि० त्रि०—*'कठिन बिबेक'*, यथा—*'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥'* (वि० ११६)

नोट—बैजनाथजी और पंजाबीजीके भाव आगे दिये गये हैं।

नोट—३ *'होइ घुनाछर न्याय जौं'* इति। घुणोंके चालनेसे कभी-कभी दैवयोगसे लकड़ीमें अक्षरोंके-से आकार बन जाते हैं, यद्यपि घुन उस उद्देश्यसे नहीं काटते कि अक्षर बनें। इसी प्रकार जहाँ एक कार्य करनेमें दैवयोगसे कोई दूसरी बात अनायास हो जाय वहाँ यह न्याय कहा जाता है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि जानना, सुनना, समझना, साधना, यह सब कठिन है। यह सब यदि दैवयोगसे घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय तब भी विवेक होना कठिन है, क्योंकि उसमें अनेक विघ्न होते हैं, जिससे साधनकी रक्षा कठिन हो जाती है।

जब साधन बन गया तब क्या कठिनाई है? घुनसे दैवयोगसे अक्षर बन गया फिर न जाने वह काटता-काटता उस अक्षरको काट डाले, इसी तरह **'सोऽहमस्मि वृत्ति'** तक पहुँचनेपर यदि उसका शरीर छूट गया तो वह कैवल्यमुक्ति पा जाय, नहीं तो फिर कहीं मायामें फँस गया तो सब परिश्रम व्यर्थ गया।

करु०—ज्ञानमार्ग कहते कठिन, समुझते कठिन और उसका साधना कठिन तथा उसका विवेक कठिन है। जो कदाचित् ज्ञानके मार्गमें घुनाक्षरन्याय हो तो जीव कृतार्थ हो। घुनाक्षरन्याय अर्थात् जैसे घुन लकड़ीको चालता है कहीं कभी दैवयोगसे रकार-मकार बन गया और उसी समयमें घुणका शरीर पात हो गया तो वह कृतार्थ हो गया। क्योंकि अन्तकालमें कैसे भी रामनाम आवे तो कोई भी जीव क्यों नहीं कृतार्थ हो जायगा। और यदि रकार बननेपर फिर उसके आगे अपर चिह्न बन गया तो विघ्न हुआ। इसी प्रकार ज्ञानीने षट्भूमिका पार कर सातवींपर सोऽहमस्मिवृत्तिकी अखण्ड प्राप्ति की और उसी दशामें उसका शरीर पात हो गया तो वह कैवल्यको प्राप्त हो गया। पर इसी दशामें लय, विक्षेप, कषाय और रसाभास आदि अनेक विघ्न होते हैं।

पां०—*'होइ घुनाक्षर न्याय जौं……'* भाव कि जैसे कदाचित् घुनसे अकस्मात् अक्षर बन जाय वैसे ही कदाचित् साधक इन तीनों विघ्नोंसे बच निकले तो भी आगे अनेक विघ्न हैं।

वि० त्रि०—घुणाक्षरन्याय कहकर *'अस संजोग ईस जब करई।……'* (११७। ८) का साफल्य दिखलाया।

बै०—१ *'कहत कठिन'* अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही है यह कहते नहीं बनता। *'समुझत कठिन'* अर्थात् ब्रह्म मायापर सर्वज्ञ अखण्ड आनन्दरूप और जीव मायाके वश, अल्पज्ञ सदा दुःखरूप, इन दोनोंकी एकता यह समझमें नहीं आती। साधन कठिन ऐसा कि किसीके मानका नहीं। 'विवेक कठिन' अर्थात् संसार-बन्धन छुड़ाकर अपने ही बलसे आत्मरूप भिन्न कर लेना इति विवेक कठिन है। २—जब किसीकी युक्तिसे पूरा नहीं हो सकता तो वेद-पुराण-वेदान्त जो ज्ञानको गाते हैं सो क्या वृथा ही है? उसपर कहते हैं कि वृथा नहीं है, ज्ञान पूरा होता है पर घुणाक्षरन्यायसे। अर्थात् जैसे काटते-काटते घुनसे कोई अक्षर बन गया वैसे ही साधन करते-करते कभी ज्ञान भी पूरा हो जायगा परंतु यदि देहधारी बना है तो फिर भी विघ्न-बाधा तो अनेक हैं, इनसे बचेगा कैसे? जैसे घुणसे अक्षर बन गया और कट भी गया।

वै०—यदि कहो कि 'मुक्तदशा प्राप्त होकर फिर कैसे बन्धनमें पड़ सकता है?' तो उसका उत्तर यह है कि पूर्व भी तो वह अमल चेतन आनन्दराशि था फिर वह कैसे आत्मरूप भूलकर स्वइच्छित मायाके बन्धनमें पड़ा? जैसे आदिमें मायाबन्धनमें पड़कर जीव बना, वैसे ही अब बन्धनमें पड़ जानेमें क्या आश्चर्य? यावत् देह धारण किये हैं तावत् जीवन्मुक्तको भी किसी समय कारण पाकर जीवत्व देहबुद्धि अवश्य आ जायगी, जैसे सनकादिने जय-विजयको, कपिलदेवने सगरके पुत्रोंको और लोमशने भुशुण्डिजीको क्रोधमें शाप दे दिया।

पं०—*'कहत कठिन'* अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह कथन भी कठिन है, तात्पर्य कि हृदयके निश्चय बिना यह कथन शोभा नहीं पाता। *'समुझत कठिन'* अर्थात् अपने-आपको आत्मा समझकर निरभिमान होना यह समझना भी कठिन है। 'साधन'—शम-दमादिक जो विवेकके साधन हैं उनका साङ्गोपाङ्ग होना कठिन है।

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥ १॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥ २॥

अर्थ—ज्ञानमार्ग कृपाणकी धार है। हे खगेश! इस मार्गपरसे गिरते देर नहीं लगती॥ १॥ जो मार्गको निर्विघ्न निबाह लेता है वह कैवल्य मुक्तिरूपी परमपद पाता है॥ २॥

नोट—कृपाण द्विधार तलवारको कहते हैं। साधारण तलवारकी ही धार बड़ी तीक्ष्ण होती है, उसपर चढ़ना महा कठिन है कि चढ़े और पैर न कटे। यह कठिनता पातिव्रत्यधर्मके निर्वाहमें भी इसी प्रकार कही गयी है, यथा—*'त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा।'* (१। ६७। ६) पातिव्रत्यको असिधारा कहा और ज्ञानमार्गको कृपाणकी धारा। इस प्रकार ज्ञानमार्गको पातिव्रत्यसे भी कठिन जनाया। कठोपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीय वल्लीमें भी ज्ञानको छुरेकी धार कहा है; यथा—**'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥'** (१४) अर्थात् (श्रुति परमात्माकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर

अब मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है) उठो, (जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञान-निद्रामें सो रहे हो। उससे) जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर ज्ञान (परमात्माका रहस्य) प्राप्त करो। (परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है। महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना) तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है।

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि '**कृपाणकी धारा**' का भाव यह है कि ज्ञानपंथ बड़ा ही सूक्ष्म है, बस उसे तलवारकी धार ही समझिये। रास्ता क्या है, निरावलम्ब मार्गमें एक रेखा है। झूलेपर चलना कितना कठिन है? फिर उस कृपाणकी धारापरसे कोई क्या चलेगा? गिरते देर नहीं लगती। चलते बड़ी देर लगती है। तारपर या रस्सेपर चलनेवाले समताको बनाये हुए बड़ी कठिनता और देरसे पैर रखते हैं, तनिक-सा समतामें वैषम्य आया कि पतन हुआ, यहाँ तो कृपाणधारा-सा सूक्ष्मपथपर चलना है, पतनमें क्या देर है? यथा—***'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'***

वि० टी० कार लिखते हैं कि भाव यह है कि जो उपाय बिगड़े तो पैर कट जाय और जो गिर पड़े तो चोट लगे, इसी प्रकार ज्ञानके मार्गका साधन न सँभला तो पागल हो जाय और जो संयम बिगड़े तो भवकूपमें पड़े।

वि० टी०, वि० त्रि० इत्यादि ***'परत'*** का अर्थ 'गिर पड़ते' और वीर कविजी 'पाँव पड़ते' देरी नहीं लगती अर्थात् तुरंत पैर कट जाता है—ऐसा अर्थ करते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि—'ज्ञानका पंथ कैसा सूक्ष्म और कराल है जैसे तलवारकी धार; जिसपर चलते गिर पड़ते देर नहीं लगती, शीघ्र ही गिर पड़ता है। तलवारपर चलनेमें गिर पड़ने और पैर कट जानेकी शङ्का, वैसे ही ज्ञान-मार्गका साधन अत्यन्त कठिन है। न हो सकना यही गिरना है और साधन करनेमें चूक जाना यही पैरका कट जाना है। यहाँ ***'परत'*** का अर्थ ***'पंथ'*** और ***'धार'*** के सम्बन्धसे जो संगत हो वही ठीक है।' ***'निर्बिघ्न निर्बहई'*** से जनाया कि इस पंथमें बड़े विघ्न हैं जो कि ऊपर कह आये।

वि० त्रि०—***'कैवल्य परम पद लहई'*** अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त होता है, यथा—***'जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।'***

करु०—१ कृपाण अर्थात् द्विधार तलवार। इसके चलानेमें बड़ी होशियारी, खबरदारी चाहिये, क्योंकि कृपाणको पट पड़ते देर नहीं लगती और यदि पट पड़ी तो वैरीने मार लिया। ऐसे ही ज्ञानमें बड़ी खबरदारी चाहिये। २—यदि कोई कहे कि तुरीयावस्था कैवल्यरूप ही है और तुमने तुरीयाको बत्ती कहा है 'तो वह ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें जड़की ग्रन्थि पड़ गयी है और जो तुरीयाके प्रकाशसे छूटती है?' तो इसका उत्तर यह है कि जीवहीमें चारों अवस्थाएँ होती हैं; जाग्रत्में वह विश्वरूप है, स्वप्नमें तेजस्‌रूप, सुषुप्तिमें प्राज्ञरूप है और तुरीयामें शुद्धस्वरूप है। पर जाग्रत्-अवस्थामें समय-समयपर तीनों अवस्थाएँ सूक्ष्मरूपसे वर्तमान होती हैं; स्वप्नमें जाग्रत् सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है, सुषुप्तिमें स्वप्न और तुरीयामें सुषुप्ति सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है, क्योंकि तुरीया केवल ब्रह्मस्वरूप है और शुद्ध जीवमें तुरीया वर्तमान होती है। उसमें सुषुप्ति जो कारणरूप है वह सूक्ष्मरूप तुरीयामें वर्तमान है—कुछ सम्बन्ध मानकर और कुछ जीवका धर्म मानकर। इसीसे जब जीव विज्ञानको प्राप्त हुआ तब तुरीयावस्थाकी पूर्ण दशाकी प्राप्ति हुई। जब सम्पूर्ण देहादिक संसारकी गन्धका त्याग हुआ, तब भी त्यागकी किञ्चित् सुध बनी है, इसे तुरीया विष, सूक्ष्म कारण जानना। यह कारण बाधक नहीं है। वह कारण जीवमें इस प्रकार है जैसे भूना हुआ अन्न जो बोनेसे उगेगा नहीं। वह सूक्ष्म सुध ही आत्मामें जड़की ग्रन्थि है, इस सूक्ष्म सुधको भी आत्मासंगी शुद्ध बुद्धि नहीं सह सकती। इसीको वह छुड़ाना चाहती है अर्थात् त्यागकी सुधको बिसराना चाहती है। संसारके त्यागकी सुध बिसर जाना यही ग्रन्थिका छूटना है। यहाँ तुरीयावस्थाका आगमन बत्ती है, विज्ञान-निरूपण घृत है, परम योगाग्निद्वारा उसका जलाना हुआ और आत्मानुभव-ज्ञान उसका प्रकाश है। ईश्वर तुरीयस्वरूप है और उसकी कृपासे जीवमें तुरीयावस्था वर्तमान होती

है। उसी अवस्थाके प्रकाशमें तीन अवस्थाओंकी सूक्ष्म शुद्धिको बुद्धि छुड़ाती है, जब छूट जाय तब यह जीव तुरीयस्वरूप हो जाय, कैवल्य पद प्राप्त हो जाय।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥ ३॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥ ४॥

अर्थ—सन्त, पुराण, निगम और आगम सब कहते हैं एवं बाजी लगाते हैं कि कैवल्य परमपद अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३॥ वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामभजन करते हुए बरिआई इच्छा न करनेपर भी आ प्राप्त होती है॥ ४॥

रा० प्र०—'**अति दुर्लभ**'=कठिन साधन करनेपर भी जिसकी प्राप्ति कठिन है।

वि० त्रि०—१ त्रिदेवके अधिकारको 'पद' कहते हैं यथा—'*भरतहिं होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।*' परंतु कैवल्यपद उससे भी बड़ा है, इसलिये परमपद कहा। २—'*अति दुर्लभ*' का भाव कि अन्तिम देह अर्थात् ब्राह्मणकी देह सुरदुर्लभ है, यथा—'*चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥*' (११०। ३) उस शरीरमें भी विरति, विवेक, ज्ञान, विज्ञानका होना मुनि-दुर्लभ है यथा—'*ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥*' (८४। १) उन गुणोंके होते हुए भी उनका फलरूप कैवल्यपद अति दुर्लभ है।*

३—संत-पुराणादिके कहनेका भाव कि वेद, शास्त्र, पुराणके कहनेपर भी साधुओंके अनुमोदनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि वेद-पुराण सर्वांशमें समुद्ररूप होनेपर भी उनके वाक्यरूपी जलसे काम नहीं चलता। जब वह वेद-पुराणरूपी समुद्रका वाक्य-जल मेघ-स्थानीय साधुओंके मुखसे च्युत होता है तब संसारके कामका होता है, यथा—'*बेद पुरान उदधि घन साधू।*' अत: वेद, पुराण, शास्त्र और साधु सब एक स्वरसे कहते हैं कि कैवल्यपद अति दुर्लभ है, यही परम पुरुषार्थकी सिद्धि है।

रा० प्र०—'*राम भजत।*' क्योंकि ज्ञान-अज्ञान दोनोंके आधार रामजी ही हैं। '*सो घर अगम जेहि प्रभु चहै देखावन दास करै तेहि बार नहीं*', '*मालिक तादे नहीं किसी के।*', '*अनइच्छित*' इति। क्योंकि '*काहू को पद दास न चाहत*', '*सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं॥*'—[लं० १११ (७) देखो]। दास नाम पड़ते ही मुक्ति अनायास दासी हो जाती है—'*जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।*' ['*कैवल्य परम पद*' कहकर '*सोइ मुकुति*' कहनेसे यहाँ 'परम पद' और 'मुक्ति' पर्याय जनाये। '*अति दुर्लभ*'—यह दुर्लभता पूरे प्रसंगभरमें दिखा आये। प्रत्येक साधन उसका अति कठिन है और यह तो सातवीं सीढ़ीपर पहुँचनेके बादकी बात है।]

वै०—'*अनइच्छित आवै बरिआईं।*' बिना उसकी चाह किये वह जबरई आती है। भाव यह कि भजन करते समय प्रभुकी प्राप्तिकी आतुरीसे जहाँ विरहाग्नि प्रचण्ड पड़ी तहाँ कामादि सब विकार नष्ट हो गये। पुन: जब रूपकी माधुरी वा शीलकरुणादि गुणोंके स्मरणसे प्रेम उमगा तहाँ जीव अमल होकर स्वाभाविक ही आत्मरूपको प्राप्त होता है। पुन:, श्रीमुखवचन है कि '**न मे भक्त: प्रणश्यति।**' जब नाश ही नहीं तब स्वाभाविक ही मुक्त है—यही अनइच्छित आना है।

वि० त्रि०—'*राम भजत*—' इति। (क) 'राम भजत' का भाव कि साधारणत: संसारी जीव संसारको भजते हैं। संसारमें ममता होना ही संसारको भजना है, और देहमें, गेहमें, कुटुम्बमें, परिवारमें, धनमें, सम्पत्तिमें ममता होना ही संसारी ममता या संसारित्व है। मनसे वृत्तिरूप ममताके तागे निकलकर देह-गेह-कुटुम्बादिमें लगे हुए हैं, जिनकी चौतरफा खींच-तानसे मन सतत विकल रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता। यथा—'*कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिय तान्यो॥*' इसी दु:खसे छूटनेके

* मा० म०—'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' यहाँ कहा और ज्ञानदीपकसे प्राप्तको 'कैवल्य परम पद' कहा। इस कथनभेदसे ज्ञान और भक्तिका भेद निर्णय हो गया कि ज्ञान-साधनसे कैवल्य त्रिपादविभूतिमें प्राप्त होती है। त्रिपादविभूतिकी प्राप्तिको दुर्लभ कैवल्य मुक्ति कहते हैं और भक्तिद्वारा साकेतकी प्राप्ति होती है जिसको अति दुर्लभ कहते हैं।

लिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति है। इस दुःखसे छूटनेके दो ही उपाय हैं। या तो ममताके तागे ही काट डाले जायँ या ममता संसारसे तोड़कर राममें जोड़ी जाय। यथा—*'की करु ममता रामसे की ममता पर हेल।'* ममता-तागे काटनेवाले रास्तेको ज्ञान-पन्थ कहते हैं; यथा—*'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'* परंतु यह मार्ग दुर्गम है; इसमें विघ्न बहुत हैं। साधन भी कठिन है। इसके अधिकारी भी बहुत कम हैं। यदि किसी भाँति ज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाय तो उसका टिकना बिना उपासनाके सम्भव नहीं, उसका पतन हुए बिना नहीं रहता। यथा—*'ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।'* अतः दूसरा सुगम मार्ग यही है कि ममता रामसे जोड़ी जाय। इसीको भक्ति-पथ कहते हैं। इसमें ममताके तागे काटे नहीं जाते। वरं इसकी विधि यह है कि देह-गेह-कुटुम्बादिमें जहाँ-जहाँ ममताके तागे लगे हैं वहाँसे हटाके सबको बँट डाला जाय, यथा—*'कहँ लगि नाथ सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी।'*, और इसी भाँति बँटी हुई डोरीको भगवच्चरणोंमें बाँधे। इस भाँति ममताकी डोरी भगवच्चरणोंमें लग जानेपर मन खींचा-तानीसे छूटकर स्थितिको प्राप्त होता है, केवल अस्मितामात्र रह जाती है, जिसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। इससे प्रकाश होता है और सबमें समान रूपसे ब्रह्म दिखायी पड़ने लगता है। इस तरह ममता ईश्वर-प्रणिधान होनेसे ज्योतिष्मती विद्या हो गयी। यह रामभजन है। (ख) *'सोइ मुकुति'*—साधन सुगमतासे कोई सिद्धिमें त्रुटि न मान ले, अतः कहा कि *'सोइ मुकुति' (अति दुर्लभ कैवल्य परम पद)।* (ग) *'गोसाईं'* का भाव कि आप भी स्वामी हैं, आप जानते हैं कि सेवकको भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वामी उसके अभिमुख होते हैं; वैसे ही भक्तिविशेषसे श्रीरामजी अभिमुख होकर अभिधान (संकल्प) मात्रसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं और उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं। (घ) *'अनइच्छित'* का भाव कि सामान्यतः जीव अति आर्त्त होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर अथवा ज्ञानकी स्थिरताके लिये श्रीरामजीके सम्मुख होते हैं; परन्तु ऐसे एकाङ्गी प्रीति करनेवाले निष्कामभक्त भी होते हैं जिनको भजनमें ही ऐसा आनन्द मिल गया है कि वे भक्तितककी उपेक्षा करते हैं, ऐसे अनन्य भक्तोंके लिये मुक्ति भी अनिच्छित हो जाती है। यथा—*'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन॥'*, *'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥'* (ङ) *'आवै बरिआईं'*—रामभजनसे विघ्नोंका अभाव तो हो ही जाता है, उसके साथ-साथ प्रत्येक चेतनाका अधिगम (स्वरूपका दर्शन) भी होता है। भाव यह कि ममताकी डोरी श्रीराममें लगनेसे तत्पदवाच्यका दर्शन तो उसे होता ही है, साथ-ही-साथ उसे त्वंपदवाच्यका भी दर्शन हो जाता है; यथा—*'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* तत्पश्चात् भेदासहिष्णु भक्ति दोनोंका ऐक्य कर देती है अर्थात् चिज्जड़ग्रन्थि छोड़ देती है। इस प्रकार मुक्ति बरियाईसे आती है। ऐसी अवस्थामें यदि सेवक-सेव्यभाव अटल रह जाय तब तो मुक्ति रुकती है, नहीं तो बिना चाहे भी मुक्ति हो जाती है। यही मुक्तिका बलपूर्वक आना है।

नोट—*'अनइच्छित आवै बरिआईं'* इति। *'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं……।'* (लं० ११११७), *'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (कि० २६),*'ताते मुनि हरि लीन न भएऊ।'* (आ० ९। २) *'जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'* (आ० ३६। ८); *'सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहि खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥'* (८८), इत्यादिमें देखिये।

सि० ति०—ऐसा दुर्लभ कैवल्य भक्तिसे अनिच्छित कैसे आ जायगा? उत्तर—यहाँ जीवका प्रकृति-वियुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित होना और उस 'आत्म-अनुभव, सुख, सुप्रकाश' से ग्रन्थिनिर्मुक्ति कर अन्तमें संसार-दुःखसे छूटकर कैवल्य परमपद पाना फल कहा गया है; यथा—*'उभय हरहिं भव संभव खेदा।'* यही फल भक्तिसे अन-इच्छित इस तरह आता है, यथा—*'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* (आ० ३६) जीवका सहज स्वरूप *'ईस्वर अंस जीव……'* में जो कहा गया वही है उसीका शुद्ध रूपमें साक्षात् करना ही कैवल्यका भी उद्देश्य कहा गया है।

इसे *'मम दरसन——'* की चौपाईमें श्रीरामजीने श्रीशबरीजीसे नवधा भक्ति वर्णन करनेके पीछे फलरूपमें कहा है यथा—*'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।'* अतः *'जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥'* क्योंकि, *'मम दरसन फल——।'* बस, यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया।

यहाँ सकल प्रकारकी भक्तिमें प्रेमा और पराको भी समझना चाहिये। अतः इसने अच्छी तरहसे श्रीरामजीके दर्शन किये हैं, इसीसे वह अपने सहज स्वरूपको प्राप्त हुई। दर्शन इस प्रकार होते हैं—

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा भक्तिसहित श्रीरामजीके दर्शन करता रहता है, इसमें इन्द्रियोंके विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः चित्तवृत्ति भगवान्‌में ही रहती है फिर प्रेमाभक्तिके द्वारा सूक्ष्म शरीरके दोषोंको शुद्ध करता हुआ श्रीरामजीमें चित्त रखता है और बुद्धिसे उन्हींकी कृपा, दया आदि गुणोंका विचार होनेपर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियोंसहित प्रीतिके उमंगमें निमग्न रहता है। अतः दर्शनोंमें बाधा नहीं पड़ती। पुनः पराभक्तिके दृढ़ अनुरागके आरम्भमें ही विरहाग्निके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म वासनामय कारण शरीर भस्म होनेसे साधक तुरीयावस्थाको स्वतः प्राप्त होता है। इसी अवस्थामें वहाँ **'सोऽहमस्मि'** वृत्ति कही गयी है। इस पराभक्तिमें भगवान्‌में गाढ़ स्मृति स्वतः एकरस रहती है—*'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'*, इससे ज्ञान-प्रसंगकी मायाकृत बाधाएँ जो ग्रन्थि छोड़नेमें कही गयी हैं, कुछ नहीं कर सकतीं, यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥'*; अतः यह उक्त ग्रन्थियोंसे भी निर्मुक्त हो जाता है।—**'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'**(भा० १०। २। ३३)

यहाँतक ये सब कार्य केवल श्रीरामदर्शनसे हुए। अवस्थानुसार मनादि इन्द्रियोंके लिये आधाररूपमें नवधादि भक्तियाँ थीं, जिसकी ज्ञानमें त्रुटि है। दर्शन-फलको श्रुतियाँ भी कहती हैं—**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'**(मुण्डक० २। २। ८) ग्रन्थिके कट जानेपर प्राचीन कर्मोंका विनाश हो जाता है। फिर शरीर शरीरीरूपमें स्वस्वरूप स्थित रहनेसे क्रियमाण कर्म अहंकाररहित होते हैं और प्रारब्ध कर्मभोग देकर समाप्त हो जाता है। इस तरह तीनों कर्मोंके क्षय होनेसे देहरहित होनेपर मुक्त कहाता है।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ ५॥
तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥ ६॥

अर्थ—जैसे बिना थल (गहरी भूमि) के जल रह (थम या रुक) नहीं सकता, चाहे कोई करोड़ों (कितने ही) उपाय करे॥ ५॥ इसी तरह, हे खगराज! सुनिये, मोक्ष-सुख भगवद्भक्तिको छोड़कर रह ही नहीं सकता॥ ६॥

करु०—वह मुक्ति कैसे अनिच्छित (बिना चाहे) आती है? जैसे थल बिना जल रह नहीं सकता चाहे कोई कोटि भाँतिसे उपाय करे। थलमें जल अनायास आता है।

वै०—जल ऊँची भूमिपर बिना गहरा स्थान पाये रह नहीं सकता, वैसे ही मोक्ष-सुख भक्ति छोड़ और कहीं स्थिर होकर नहीं रह सकता।

वि० त्रि०—१ (क) जल-थलमें आधार-आधेय-सम्बन्ध है। जल आधेय है, थल आधार है। जलका प्रच्यवनशील स्वभाव है, अतः उसके ठहरनेके लिये थलकी आवश्यकता है। जो जिसका आधार नहीं है वह वहाँ ठहर नहीं सकता। इसका कारण ईश्वरीय नियम है। यथा—*'प्रभु आज्ञा जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥'* (ख) *'रहि न सकाई'*—भाव कि थलका साथ जल छोड़ नहीं सकता। जहाँ जल-ही-जल हो वहाँ भी अनुमान करना पड़ेगा कि आधाररूपमें थल विद्यमान है। (ग) *'कोटि भाँति कोउ——'* इति। भाव कि जो कार्य सामान्य रीतिसे नहीं होता, उसके लिये उपाय किया जाता है। यथा—*'तदपि एक मैं कहब उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई॥'* अतः उपायद्वारा, यन्त्रद्वारा चाहे जल अन्तरिक्षमें फेंका जाय अथवा ईश्वरी नियमसे मेघद्वारा आकाशपर चढ़ जाय, पर वहाँ ठहर नहीं सकता।

२—'*मोक्षसुख—*' इति। (क) यहाँ मोक्षसुख शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि मोक्ष होनेके साधनद्वारा मुक्तिके सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव होने लगता है। अथवा, ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर भी प्रारब्धके प्रतिबन्धक रहनेसे मुक्ति रुकी रहती है, पर मोक्षसुख नहीं रुक सकता। अतः यहाँ मुक्ति न कहकर मोक्षसुख कहा। पुनः मोक्ष कृतक नहीं है, नित्य है, उसका आधार कहना नहीं बनता। इसीलिये मोक्ष न कहकर मोक्षसुख कहा, क्योंकि अहं-मम-रूपा अविद्या नित्य प्राप्त मोक्षसुखको आच्छादित रखनेवाली है। (ख) '*खगराई*' सम्बोधनसे जनाया कि उड़नेवालोंमें प्रथम गणना आपकी है, आप जानते हैं कि कितना भी कोई उड़े पर बिना थलके विश्राम नहीं मिल सकता। (ग) '*रहि न सकै हरिभगति बिहाई*' इति। भाव कि हरिभक्ति तथा ब्रह्मसुखमें आधाराधेयभाव है; जहाँ ब्रह्मसुख है वहाँ हरिभक्ति अवश्य है। हरिभक्तिको छोड़नेपर ब्रह्मसुख निराधार हो जाता है। हरिसे नाता तोड़नेपर ब्रह्मसुखकी कोई आशा ही नहीं। यथा—'*जोग कुजोगु ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥*' (२। २९१। २)

नोट—१ विशेष '*ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥*' (४५। ३) देखिये। २—वैसे ही मोक्षसुख भक्ति करनेसे अनायास आ जाता है। यहाँ भक्ति थल है, मोक्षसुख वा मुक्ति जल है।

अस बिचारि हरिभगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ ७॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ ८॥

अर्थ—ऐसा विचारकर चतुर हरिभक्त मुक्तिका निरादर करके भक्तिपर लुभाये रहते हैं॥ ७॥ भक्ति करते हुए बिना यत्न और परिश्रमके संसारकी मूल अविद्याका नाश होता है॥ ८॥

नोट—१ '*अस बिचारि*'—जैसा ऊपर '*हरिमाया अति दुस्तर—॥*' (११८) वा '*अति दुर्लभ कैवल्य परम पद*' से '*रहि न सकै हरिभगति बिहाई*' तकमें कहा वैसा। २—'*मुक्ति निरादर—*' यथा—'*भगतिहीन गुन सब सुख कैसे।—भजनहीन सुख कवने काजा॥*' (८४। ४—६) देखिये। भुशुण्डिजीने स्वयं निरादर किया। उसीपर गरुड़जीने प्रश्न किया कि '*नहिं आदरेहु भगति की नाईं*' ११५ (१०) देखो। उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि कुछ मैंने ही निरादर नहीं किया, सभी सयाने हरिभक्त मुक्तिका निरादर करते हैं। श्रीरामजीने मुक्तिके निरादरसे ही भुशुण्डिजीको '*सहज सयाना*' विशेषण दिया था—'*सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥*' ८५ (२), ११८ (९, १०) देखिये। सयाने भक्त निरादर करते हैं और ये तो '*सहज सयाने*' हैं तब क्यों न निरादर करते। ☞ यह '*नहिं आदरेहु*' का उत्तर है। [रा० शं०—जो अनिच्छित आता है उसका निरादर होता ही है—'*जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥*']

पं०—यहाँ '*सयाने*' से आचार्य भक्त अभिप्रेत हैं। '*निरादर*' अर्थात् उसकी इच्छा नहीं करते। यदि कोई कहे कि मुक्तिका निरादर अर्थात् त्याग करते हैं तो जन्मादिके दुःखके भागी होते होंगे, उसपर कहते हैं कि ये दुःख तो अविद्यासे होते हैं और भक्ति करनेसे अविद्या तो नियत नाश हो जाती है तब भक्तको यह दुःख कहाँ?

करु०—कैवल्यकी प्राप्ति अति कठिन दिखा आये। उसकी सिद्धि भी हुई तो जीव शुष्कमुक्ति सायुज्यको प्राप्त होता है। जैसे महदाकाश, मठाकाश, घटाकाश तीन कहे जाते हैं पर मठ और घटके टूटनेसे आकाश एक ही है, जैसे बूँद-बूँद जल समुद्रमें मिलनेसे एक ही है। जैसे दर्पणकी उपाधिसे मुख दूसरा देख पड़ता है, उपाधिके दूर होनेपर मुख एक ही है—ज्ञानी इसी प्रकारकी एकता जीव-ब्रह्मकी मानते हैं, जीवकी वासना ध्वंस होनेसे एक मानते हैं। वही स्वस्वरूपकी शुद्धता, कैवल्यरूप जीव-ब्रह्मकी एकता, ज्ञानमार्गसे अति कठिनतासे हुई है। वही शुद्ध स्वस्वरूप श्रीरामचन्द्रकी साधनभक्ति करनेसे स्वाभाविक प्राप्त होता है तथा पराभक्ति प्राप्त होती है तब जीव श्रीरामचन्द्रके सामीप्य, सारूप्यको प्राप्त होता है। पूर्वाचार्योंका सिद्धान्त है कि 'भक्तिद्वारा जब जीव पर विभूतिको प्राप्त होता है तब परमेश्वर उसकी शुद्धता देखकर पूछते हैं कि '**को भवान्**' तुम कौन हो, तब जीव हर्षपूर्वक कहता है कि '**ब्रह्मास्मि तव दासोऽस्मि।**'

वि० त्रि०—'*मुक्ति निरादर—*' इति। (क) निरादरका भाव कि करगत मुक्तिसे भी पीछे हटते हैं, भक्तिके आनन्दमें मग्न हैं, मुक्तिकी ओर देखनेके लिये उन्हें अवसर नहीं। यथा—'*सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥*' (ख) '*भगति लुभाने*'—भाव कि भक्तिशास्त्रमें कार्पण्य विशेषका

आदर है। जैसे कृपणको धनका लोभ होता है, धनके लिये सुखका त्याग करनेका उसका ऐसा स्वभाव पड़ जाता है कि वह मुफ्तमें मिले हुए सुखको भी नहीं भोगना चाहता, दूसरेके भोगको भी नहीं देख सकता, उसी भाँति भक्तको भी भक्तिका लोभ हो जाता है, उसे स्वयं भी मोक्षकी इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको भी यह उपदेश देता है। यथा—*'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥'* (ग) श्रवणादिक नवधा भक्ति वर्णाश्रमाधिकारियोंके लिये है, परंतु आचाण्डाल मनुष्यमात्रके लिये जिस नवधा भक्तिका उपदेश है वह शबरीके प्रसङ्गमें कही गयी है।

'बिनु जतन प्रयासा' का भाव कि ज्ञानद्वारा अविद्यानाशमें यत्नमें परिश्रम है, इसमें परिश्रम नहीं और न भक्ति छोड़ कोई दूसरा यत्न करना पड़ता है।

पं०—*'भगति करत बिनु जतन प्रयासा'* का भाव कि भक्ति तो यत्न करनेसे उत्पन्न होती है पर भक्ति होनेपर अविद्याके नाशके लिये अन्य यत्न नहीं करना पड़ता। भक्तिमात्र ही करनी पड़ती है।

वि० त्रि०—*'संसृति मूल—'* इति। (क) यद्यपि यह सृष्टि मायाकी रची हुई है, पर यह हरिकी प्रेरणासे रची गयी है। यह बन्धका कारण नहीं है। बन्धका कारण जीवकृत सृष्टि है। यह अविद्यासे है, यही दुःखरूपा है, इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा है (ख) *'अबिद्या'*—यह पञ्चपर्वा है, इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—(१) अविद्या (अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्ममें नित्य, शुचि, सुख और आत्मका भान)। (२) अस्मिता (चित्-शक्ति और जड़-शक्ति बुद्धिकी एकात्मता)। (३) राग (सुखके जानकारकी सुखानुस्मृतिपूर्वक सुख या सुखके साधनमें तृष्णा)। (४) द्वेष (दुःखके जानकारका दुःखानुस्मृतिपूर्वक दुःख या दुःखके साधनमें जो क्रोध होता है। (५) अभिनिवेश (मरणभय)। (ग) *'अबिद्या नासा'* इति। भक्तिसे पञ्चपर्वा अविद्याका नाश हो जाता है। यथा—*'हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या', 'जन अभिमान न राखहिं काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जौं मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध।', 'सपनेहु नहिं कालहु ते डरिये।'* (क०)

भोजन करिअ तृपिति * हित लागी। जिमि सो असन पचवइ† जठरागी॥ ९॥

असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥१०॥

अर्थ—जैसे भोजन तृप्ति (पेट भरने, भूखको संतुष्ट वा शान्त करने) और हितके लिये किया जाता है और उस भोजनको जठराग्नि (अपने-आप, बिना हमारी चेष्टाके) पचाती ही है॥ ९॥ इसी प्रकार हरि-भक्ति ऐसी सुगम और सुख देनेवाली है। ऐसा कौन मूढ़ होगा, जिसे वह अच्छी न लगे?॥ १०॥

खर्रा—तृप्ति मुख्य फल है और पचाना आनुषङ्गिक फल है जो अवश्य उपाय बिना होता ही है, इसी तरह भक्तिका मुख्य फल भगवत्में प्रेम ही है और मुक्ति आनुषङ्गिक फल है, आप हो जाती ही है।

शीला—भाव कि तृप्तिके लिये सुन्दर भोजन सभी करते हैं, पचनेके लिये नहीं और जब जठराग्नि उसे पचा देती है तब सुख होता है न पचे तो दुःख हो; वैसे ही श्रीरामभक्ति करनेसे बिना यत्न और परिश्रमके संसार-दुःख अविद्याका नाश होता है।

पं०—ऊपर जो कहा कि भक्ति करनेसे अविद्याका नाश बिना यत्नके हो जाता है उसीका दृष्टान्त यह देते हैं। जैसे भोजन तृप्तिके लिये किया जाता है, भोजन करनेमें यत्न करना पड़ता है पर जठराग्निमें जो भोजन परिपक्व होता है उसमें कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार हरिभक्ति अल्पयत्न करनेसे सिद्ध होनेवाली है और इसमें सुख भी सब हैं।

करु०—भक्ति करनेसे अविद्या कैसे नाश होती है? जैसे सुष्ठु अन्न बनानेमें भोजन अपनेसे ही करना होता है पर पचानेका काम जठराग्निका होता है वैसे ही अपनेसे भजन किया जाता है वही संसृति-मूलको बिना श्रम नाश कर देता है।

---

* 'तृप्ति' † 'पचव'—(का०)

वै०—बिना यत्न किये अविद्या नाश हो जाती है जैसे, सुन्दर भोजन तृप्तिके लिये किया जाता है, इच्छामें कुछ भी कसर नहीं रखते, पर पेटमें जो जठराग्नि है वह आप ही भोजनको पचा देती है वैसे ही जो भक्ति करते हैं, उरमें प्रेमसे श्रीरामरूपको बसाये हुए वाणीसे नामका स्मरण करते, मुखसे गुणगान करते, कानोंसे गुणग्राम सुनते और हाथोंसे प्रभुका कैंकर्य कर रहे हैं, उन भक्तजनोंके धन-धाम, स्त्री-पुत्र, व्यापारादि सब व्यवहार सङ्ग ही बना है। पर उसका विकार उनको बाधक नहीं होने पाता। वे सब सांसारिक व्यापार करते हुए भी अविद्यामें नहीं पड़ते, कारण कि श्रीरघुनाथजी उनके रक्षक हैं, वे सब बाधाएँ मिटा देते हैं। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, रुक्मांगद, जनक, विभीषण आदि ऐश्वर्य-भोग करते हुए भी निर्मल बने रहे।

वि० टी०—भाव यह कि प्राणी तो भोजन करता है परंतु उसे पचानेवाला जठराग्नि परमेश्वर है जो मनुष्योंके हृदयमें रहता है, यथा—'**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥**' (गीता १५। १४) इसी प्रकार भक्तोंके हृदयमें भजनके प्रभावसे परमेश्वर बसते हैं, वे उनको गृहस्थादि कर्मोंमें लिप्त होने नहीं देते।

पां०—भोजन अघाने और मुटानेके लिये मनुष्य करता है, परंतु पेटकी अग्नि उसे पचा देती है। ऐसे ही रामभक्त जो कर्म करते हैं उन्हें भक्ति पचा देती है। दुर्बलताका दूर होना तथा शरीरमें बल होना '*हित*' है। जठराग्नि उदरस्थ भोजनको पचाती है। उसीसे रस, रक्त आदि सातों धातु बनकर इस शरीर-यन्त्रका पोषण करते और बल-सम्पादन करते हैं।

वीरकवि—भाव कि जैसे भोजनका पचाना जठराग्निका सहज गुण है, तैसे सांसारिक कष्टोंका नाश करना हरिभक्तिका स्वाभाविक गुण है। यह उदाहरणका स्वभावोक्ति अङ्ग है।

☞ यहाँ भोजन, तृप्ति, जठराग्नि और उसका भोजन पचाना क्या है? भक्ति भोजन है, तृप्ति सुख (मोक्षादि) है, भक्तिमें जो भवहरणि शक्ति है वह जठराग्नि है, जठराग्निका अन्नको पचा देना संसृतिमूल अविद्याका नाश होना है।

सि० ति०—हरिभजन सुन्दर भोजन है। प्रेमसहित भजन करते हुए इन्द्रिय अन्तःकरण-सहित जीवको उससे तृप्ति हुआ करती है, यथा—'*कबहूँ कपि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे। मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग-अंग भिन्न-भिन्न सुख छबि निरखि-निरखि तहँ तहँ छावहिंगे।*' (गी० सुं० १०) इन्द्रियोंको अपना विषय ग्रहण करना चिर-अभ्यस्त होनेसे सुगम एवं सुखदायी रहता है। भक्तिहीन विषय नरक देनेवाले हैं, अविद्यात्मक हैं और वही विषय भक्तिके रूपमें अर्थात् श्रीरामके रूप देखने एवं उनके यश सुनने आदिमें श्रीरामप्राप्तिरूप मोक्षके साधन होते हैं। भगवत्सम्बन्धी दिव्य विषयसे इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं और प्रारब्ध वृत्तियाँ भी भक्तिरूपमें परिणत होकर समाप्त होती जाती हैं। विषयानुरागरूपी विकार भस्म होता जाता है, पचता जाता है। (भक्ति-सम्बन्धी व्यवहार भी अविद्यात्मक नहीं होता) भक्तिरूपमें ही परिणत हो जाता है। इसमें जठराग्निरूपा इष्ट कृपा है।

वि० त्रि०—'*असि हरिभगति*……' इति। '*असि*' दार्ष्टान्तसूचक शब्द है। भाव कि भोजनकी भाँति भजनकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। जिस प्रकार इन्द्रियगम्य यह शरीर है, उसी भाँति अनुभवगम्य इस शरीरमें व्याप्त सूक्ष्म मानसिक शरीर है। असली शरीर तो यही है, इसलिये इसको अन्तःकरण कहते हैं, स्थूल शरीर तो आयतनमात्र है। जिस भाँति स्थूल शरीरका धारक, पोषक और नाशक जठराग्नि है, उसी भाँति मानसिक शरीरका सर्वस्व सुमति है, यथा—'*सुमति छुधा बाढ़इ नित नई।*' जिस भाँति हित-मित और पथ्य भोजनके जठराग्निद्वारा परिपाकसे शरीरका धारण-पोषण और बल-वर्धन होता है, उसी भाँति हरिभजनके परिपाकसे मानसिक शरीरका धारण-पोषण तथा परम वैराग्यका उदय होता है। यथा—'*जानिअ तव मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई॥*' जैसे स्वयं भोक्ताको पता नहीं चलता और उसके भीतर भोजन पककर रस-रक्त-मांसादि बनकर शरीर पुष्ट किया करता है और बल बढ़ जाता है, वैसे ही भक्तको भी पता नहीं चलता कि उसका किया हुआ भजन किस भाँति मानसिक शरीरका पोषण करता हुआ

वैराग्य-बलको बढ़ाता चला जा रहा है। जिस भाँति अग्नि दुष्ट होकर शरीरका अपकार करती है और दुर्बलता बढ़ाती है, उसी भाँति सुमति कुमति होकर मानसिक रोग उत्पन्न करती है और विषयाशा बढ़ाती है। जैसे भोजन न मिलनेपर जठराग्नि अन्नाभिलाषा, दुर्बलता उत्पन्न कर शरीरका ही नाश कर देती है वैसे ही सुमतिमें भजनकी आहुति न पड़नेपर वैषयिक सुखाभिलाषा विषयाशा उत्पन्न करके मानसिक शरीरका सत्यानाश कर देती है। जिस प्रकार किसी भाँतिका भी भोजन न मिलनेसे मृत्यु होती है, वैसे ही किसी प्रकारका भी भजन न करनेसे अर्थात् संसार और ईश्वर किसीका भजन न करनेसे मानसिक शरीरका भी पतन हो जाता है। जैसे चटनी, अचार आदि उत्तेजक पदार्थोंसे न पेट भरता है और न यथोक्त लाभ होता है, बल्कि तृषा बढ़ती है, उसी भाँति कामोपभोगसे वासना बढ़ती है, शान्ति कभी नहीं होती। यथा—*'सेवत बिषय बिबर्ध जिमि निति निति नूतन मार।'* जैसे पेटकी जलन बिना भोजनके नहीं जाती, वैसे ही विषयकी जलन बिना भजनके नहीं मिटती। यथा—*'जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।'*

'हरि भजन' कहा क्योंकि हरिभजनमें विशेषता यह है कि इनकी भाँति प्रीति-रीतिका जाननेवाला कोई नहीं है। *'सुगम'* से स्वादयुक्त तथा स्वाभिलाषाकी पूर्तियुक्त जनाया। *'सुखदाई'* से फल सुखमय बताया।

नोट—१ (क) *'असि हरिभगति'*—अर्थात् जैसा *'भगति करत बिनु जतन प्रयासा'* से यहाँतक चार चरणोंमें कहा। (ख) यत्न-प्रयास-रहित होनेसे सुगम और संसृति-मूल-अविद्या-नाशक होनेसे सुखदाई कहा। (ग) *'को अस मूढ़ न जाहि सुहाई।'* जो 'सयाने' हैं 'चतुर' हैं, उनको तो सुहाती ही है वे तो *'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'* और भक्ति *'मनि लागि सुजतन कराहीं'*; अतः सिद्ध हुआ कि जिनको नहीं सुहाती वे *'सयाने'* नहीं है। *'मूढ़'* सयानेका उलटा है। सुगम सुखदायी वस्तु छोड़कर अति कठिन दुःखदायीके पीछे दौड़ना मूर्खता है। (घ) 'भक्ति सुगम', 'ज्ञान अगम, भक्ति सुखदायी और ज्ञानमें *'प्रत्यूह अनेका'* तथा *'तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस'*; ज्ञानको दुर्गम और दुःखदायी कहा।

दो०—सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामपद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करै जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य॥ ११९॥

अर्थ—हे उरगारि! सेवक-स्वामी (अर्थात् मैं सेवक हूँ और भगवान् रामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं) भावके बिना संसारसे तरना नहीं हो सकता—ऐसा सिद्धान्त विचारकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलका भजन करो। जो चेतनको जड़ कर देता है और जड़को चेतन, ऐसे समर्थ रघुनाथजीको जो जीव भजते हैं वे धन्य हैं॥ ११९॥

नोट—१ जीव ईश्वरका शेष है, ईश्वर शेषी है। यथा—**'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षरशरीरम्।'** **'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः। परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते॥ आत्मदास्यं हरेः सौम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥ ममैवांश इत्यादि।'**

समस्त प्रपञ्च ईश्वरका शरीर है, ईश्वर शरीरी है। यथा—**'यस्य पृथिवी शरीरम्, जगत् सर्वं शरीरं ते।'** शेष शेषीका, शरीर शरीरीका दास है ही। मानसमें अन्यत्र भी कहा है—*'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह', 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक', 'सेवक हम स्वामी सियनाहू।'* (पं०रामपदार्थदास वेदान्ती। रामायणाङ्कसे)

वि० त्रि०—*'सेवक सेब्य भाव……'* इति। (क) लाक्षाकी भाँति चित्तकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं, एक कठिन, दूसरी द्रव। चित्त स्वभावसे ही कठिन है, पर लाक्षाकी भाँति तापक द्रव्यके योगसे कुछ देरके लिये द्रव हो जाता है और उसके अयोगसे पुनः कठिन हो जाता है। करुणा, भय, प्रेमादि उस चित्तके लिये तापक हैं। भलीभाँति द्रवीभूत चित्तमें जिस वस्तुकी छाप पड़ जाती है वह कठिनावस्था प्राप्त होनेपर भी उसमें बनी रहती है। इसी छापको संस्कार, वासना या भाव कहते हैं। यथा—*'परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्हीं॥'* यह भाव ही विभाव, अनुभाव, संचारीभावसे पुष्ट होकर

रसत्वको प्राप्त होता है। (ख) भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण ही ऐसे हैं कि उनके जीवके चित्तपर चढ़नेसे चित्तकी द्रवावस्था हो ही जाती है। अतः स्वाभाविक पहली छाप जो पड़ती है वह सेवक-सेव्य-भावकी होती है। श्रीरामसे सम्बन्ध जोड़नेका मूल सेवक-सेव्य-भाव है। इसीको तदीय कहते हैं। (ग) ***'भव न तरिअ'***—भाव कि सेवक-सेव्य-भाव ही भवसंतरणका असाधारण साधन है, क्योंकि हरिमाया अति दुस्तर है, उसका पार करना क्रियासाध्य है ही नहीं। अतः जो अपने बलसे तरना चाहेगा वह उसीमें बहता फिरेगा, पार नहीं पहुँच सकेगा। यथा—***'भवसिंधु अगाध परे नर ते पदपंकज प्रेम न जे करते।'*** जो सेवक-सेव्य-भावसे भगवान्‌की शरण हैं, वे उनके बलसे अनायास पार पा जायँगे। (घ) ***'उरगारि'*** का भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, अतः आपके भक्तोंपर भी सर्पोंका विष काम नहीं करता; पर अलौकिक सर्पोंका विष आपपर भी काम कर जाता है। कामक्रोधादि छः शत्रुओंको सर्प कहा है। यथा ***'और सकल सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ।'*** (ङ) ***'भजहु रामपद पंकज'*** कहा, क्योंकि ये चरण ही भवपार करनेके जहाज हैं। यथा—**'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।'** (बा० मं० श्लो० ६)

नोट—२ (क) ***'सेवक सेब्य भाव'***, यथा—***'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'***—आ० ११ (२१) देखो। (ख) ***'अस सिद्धान्त'*** अर्थात् ***'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय'*** यह सिद्धान्त है।

वै०—***'चेतन कहँ जड़ करै'*** ······' इति। जैसे श्रीनारदजी चेतन थे, सो वे ऐसे जड़ हो गये कि अपने इष्टदेव ईश्वरपर भी क्रोध कर बैठे। यथा—***'फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहौं श्राप ······। सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।'*** (१। १३६। २) से दोहा १३७ तक। श्रीध्रुवजी जड़ (अबोध पाँच वर्षके बालक) थे, उनके गालपर शङ्ख-स्पर्शके साथ भगवान्‌ने उनको सर्वशास्त्रोंका ज्ञान दे दिया, सब विद्या उनके हृदयमें भर दी। यथा—**'स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः। कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः। तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः॥'**(भा० ४। ९। ४-५) अर्थात् ध्रुवजी हाथ जोड़े हुए प्रभुके सामने खड़े थे और स्तुति करना चाहते थे पर जानते न थे कि स्तुति कैसे करें। सर्वान्तर्यामीने उनके हृदयकी जानकर कृपापूर्वक अपने वेदमय शङ्खको उनके गालसे छुआ दिया। शङ्खका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गयी और वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक श्रीहरिकी स्तुति करने लगे।

रा० प०, रा० प्र०—जड़हि अर्थात् मायाको चेतन अर्थात् जीव। ***'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव'*** यह जड़को चेतनवत् कर देना है। चेतन जीवको कठपुतली-सा नचाते हैं और जड़ मायाको अनन्त ब्रह्माण्ड रचनेका सामर्थ्य दे देते हैं।

वि० त्रि०—२ ***'जो चेतन कहँ जड़'*** ······' इति। (क) जीव स्वभावसे ही ईश्वरका अंश होनेसे ***'चेतन अमल सहज सुखरासी।'*** है। वह मायाके वश होकर कीट-मर्कटकी नाईं बँध-सा गया। मायाके रजोगुण तथा तमोगुणके तारतम्यानुसार उसमें भी जड़त्वका तारतम्य भासने लगा। इसीको चेतनका जड़ होना कहते हैं। जड़ भी स्वभावसे ही चेतन है, केवल मायाका परदा पड़नेसे वह जड़ बना हुआ है। उस पर्देके हटनेकी देर है चेतन तो वह है ही; यथा—***'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी।'*** वह माया ही पर्देको पलटकर कभी अपेक्षाकृत चेतन और कभी जड़ बनाकर नचा रही है और स्वयं भी प्रभुके इशारेपर नाच रही है। इस विधिसे वह मायापति जड़को चेतन और चेतनको जड़ बनाता रहा है। (ख) ***'अस समर्थ'***—चेतनको जड़ और जड़को चेतन बनानेवाली सामर्थ्य सब सामर्थ्योंसे बड़ी सामर्थ्य है। अतः ऐसा सामर्थ्यवाला ही सबसे अधिक समर्थ है। चित्-शक्ति तो सर्वत्र ही समानरूपसे अवस्थित है, पर चेतनके अधिक विकाससे ही ब्रह्मदेव सबसे बड़े हैं और संकोचसे ही मशक छोटा है। अतः समर्थ वही है जो चेतनके संकोच-विकासका नियमन करता हो। यथा—***'मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'*** (ग) ***'रघुनायकहिं'*** का भाव कि भगवान्‌ने अवतार तो अनेक धारण किये पर जड़को

चेतन करनेकी सामर्थ्य जैसी श्रीरामावतारमें दिखलायी है वैसी अन्य अवतारोंमें नहीं दिखायी है।—*'जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी।'*, *'उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु।'* पुन: *'रघुनायक'* शब्दसे उनकी दानशीलता और करुणा दिखायी। (घ) *'भजहिं जीव ते धन्य'* इति। जो श्रीरघुनाथजीका भजन करते हैं उनका कुलमात्र धन्य माना गया तब स्वयं उनका क्या कहना। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत।'*

नोट—(क) *'अस समर्थ।'* मिलान कीजिये—*'मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'* (१२२) तथा *'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।'* (६। ३४। ८)। (ख) 'ते' से 'जे' वा 'जो' का अध्याहार ऊपरसे कर लेना होगा। (जे) 'जीव' अर्थात् वे स्त्री-पुरुष, शूद्र अन्त्यज, मनुष्य वा पशु, ऊँच-नीच, कोई भी हों वे धन्य हैं। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत।'* (१२७) न भजनेवालोंको पूर्व कह आये हैं कि *'राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥'* ९६ (२-३) देखिये।

'अस समर्थ......धन्य' में ध्वनि यह है कि जो जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना देनेको समर्थ है वह जड़ चेतनकी ग्रन्थि भी खोल देनेको समर्थ है, अत: जो उसका भजन करेंगे या करते हैं उनको भजन छोड़ अन्य कोई उपायकी आवश्यकता ही नहीं, भगवान् स्वयं ही उस ग्रन्थिको खोल देंगे।

वै०—*'भव न तरिय'* तथा *'भजहिं जीव ते धन्य'* इसीसे अद्वैतके आचार्य कपिलदेवजीने भी बारम्बार भक्तिकी प्रशंसा की (श्रीमद्भागवतमें) और इस कालके अद्वैताचार्य श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है कि भेदबुद्धि दूर होनेपर भी, हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे नहीं। यथा—**'अविनयमपनय विष्णो दमय मन: शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरत:॥ दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे। श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥ सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'**

पं०—*'चेतन कहँ......'*—इसका एक अर्थ सर्वशक्तिताका साधारण है। दूसरा प्रसङ्गानुकूल अर्थ यह है कि जो ज्ञानके अभिमानसे अपनेको चैतन्य मानते हैं—उनको जड़ अर्थात् विषयलम्पट कर देता है और जो अपनेको जड़ अर्थात् भूला हुआ मानते हैं उनको चैतन्य करता है, मुक्ति दे देता है।

पां०—भाव यह है कि मैं जड़वत् था सो मुझे भक्तिगुणसे चैतन्य कर दिया।

ज्ञान-भक्तिवाद'

मा० हं०—'अपनी रामायणमें तुलसीदासजीने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है और साधक-बाधक प्रमाणोंसे वही मत सिद्ध किया है।......इस वादके विषयमें कुछ अधिक विवरणकी आवश्यकता ज्ञात होनेके कारण यह तुलनात्मक निरूपण किया जाता है। गोसाईंजीका एक उक्त वादको दिया हुआ तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकारसे है—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।......'* इत्यादि। अब इसीका विचार करें। वस्तुस्थिति प्रत्यक्ष यही दिख रही है कि प्रस्थानत्रयी-सदृश बड़े-बड़े ग्रन्थोंपर जोर लगानेवाले व्याख्याता इधर देखो तो जान मारकर कहते जाते हैं कि इस संसारमें सब पापोंकी असली जड़ केवल एक अभिमान ही है, और उसके-जैसा वैरी अन्य कोई है ही नहीं। परंतु उधर वस्तुस्थिति देखो तो ये व्याख्याता स्वयं ही अभिमानसे अधिकाधिक ग्रसित होते जाते हैं। इस स्थितिको देख सहज ही शङ्का होती है कि यह प्रस्थानत्रयी-सरीखे ग्रन्थोंका दोष है, अथवा इन व्याख्याताओंका? हमारे मतसे वह व्याख्याताओंका ही दोष है। इन व्याख्याताओंकी यह ज्ञाननिर्भरता केवल ही दिखावटकी है। ज्ञान तो दूर ही रहा, केवल ज्ञानकी बातें भी पचानेकी कुंजी इन्हें मालूम नहीं रहती। इसीलिये जिसे वे ज्ञान समझते हैं उसका उन्हें अपचन होकर 'अहंकार जो दुखद डहरुआ' है इनके तमाम जोड़ोंमें भर जाता है। ऐसा होनेका कारण स्पष्ट ही है। भक्तिके अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता, और अहंकार छूटे बिना ज्ञान जम नहीं सकता। अत: भक्तिके अभावमें ज्ञान न जमकर अहंकार ही जमता जाता है। इसी कारण इन वेदान्तियोंको ज्ञानकी बातोंका अपचन होकर उनका अहंकार जोरसे बढ़ता जाता है। पश्चात् इस अहंकारकी वृद्धिका परिणाम स्वामीजीने ऊपर बतलाया जैसा

होकर उनका (वेदान्तियोंका) देह सूखे काठके सदृश कड़ा बन जाता।......यदि भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढ़ानेमें न होता तो गीताका व्याख्यान सम्पूर्ण करनेपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनको खासकर चेताया न होता कि **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।'**(१८। ६७) अर्थात् तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो उसे यह कदापि न सुनाना चाहिये। भक्ति शब्दसे ही भज्य-भजकभाव और भज्यकी श्रेष्ठता तथा भजककी कनिष्ठता व्यक्त होती है। इस श्रेष्ठता और कनिष्ठताके भावका उत्कर्ष जिस प्रमाणसे भजकमें होता जायेगा उसी प्रमाणसे उसके अहंकारका अपकर्ष होता रहेगा। भक्तिका मुख्य प्रभाव यही है। कर्म, ज्ञान आदि साधनोंसे अहंकारपर आघात न होकर प्रत्युत उसकी वृद्धिका ही विशेष सम्भव रहता है। भक्ति प्रारम्भसे ही अहंकारको निगलती जाती है। **'मूले कुठारः'** की शक्ति भक्तिको छोड़कर अन्य कोई भी साधनोंमें नहीं पायी जाती। सभी संतोंका मत है कि अल्पायासकर (श्रम बचानेवाला) और भूरिप्रद्र (बहुत लाभकारक) मार्ग यह एक ही है। स्वामीजी यही मत इस प्रकारसे स्थापित करते हैं—

'छूटइ मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई॥'

भागवतका मत भी ऐसा ही ख्यापित है और गीता भी उसीको पुष्ट करती है। **'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥'**(भा० ६। १। १६)। **'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥'**(भा० ११। १४। २०)। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'**(गीता ९। ३०)।

इन प्रमाणोंसे भक्तिका अहंकारनिर्दलनपटुत्वरूप (अहंकारको निकालनेवाला) अनितरसाधारण गुण हमारी समझसे सिद्ध हो चुका। गीताजीने उपर्युक्त मतका निदर्शन कर उसमें और भी यह मत जोड़ दिया है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'** (९। ३१)। **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** और **'शश्वच्छान्तिं निगच्छति'** से भक्तिका क्षिप्रसिद्धिप्रदायित्व (त्वरित सिद्धि पहुँचाना) और भूरिप्रदत्व सिद्ध होते हैं। फिर भी **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** का तात्पर्य यह है कि अन्य साधनोंमें जो च्युतिकी भीति है उसका भक्तिमें नामनिशान भी नहीं है। और इसी कारण अन्य योगोंमें जो हानिका सम्भव है वह भक्तियोगमें कदापि नहीं रह सकता सारांश क्षिप्रसिद्धि-प्रदायित्व भूरिप्रदत्व और साधनच्युतिहीनत्व ऐसे तीन विशेष धर्म निष्पन्न हुए। ये तीन धर्म गोसाईंजीने तीन पृथक् प्रसङ्गोंमें दिखलाये हैं।

अल्पायासकरत्व—*'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥'* (३। १६। २)

भूरिप्रदत्व—*'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥'* (११९। ८)

साधनच्युतहीनत्व—*'साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (२। २८९। ८)

सूत्ररूपसे चौपाईमें जो कहा है कि साधन और सिद्धि दोनों भी रामपद-प्रेम ही हैं। अर्थात् साधन और सिद्धि एक ही हैं, इससे समझना चाहिये कि जितना कुछ साधन बन पड़ा उतनी ही सिद्धि प्राप्त हुई। इससे यही सिद्ध हुआ कि जितनी भक्ति बन जाय उतना ही वह एक अविनाशी संस्कार हो जाता है। अर्थात् साधनच्युति-(साधनसे पतन-) का प्रश्न शेष नहीं रह सकता। श्रीधरस्वामीजीने भी **'कैवल्यसंमतपथस्त्वथ भक्तियोगः'** इस भागवती श्लोककी टीकामें अपना अभिप्राय इसी प्रकारसे दिखलाया है। अवान्तर सन्तोंके अनुसार गोसाईंजी भी भक्तिका और एक विशेष धर्म मान्य करते हैं। वह अन्य-साधन-नैरपेक्षत्व (केवल स्वतन्त्र) है। उसे उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—*'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥'* इसी मतको भागवत **'केचित्केवलया भक्त्या'** और योगसूत्र **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** इत्यादि पुष्टि देते हैं।

ज्ञान-सिद्धान्त-प्रकरण समाप्त हुआ

'भक्ति-चिन्तामणि'

कहेउँ ग्यान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई॥ १॥
रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥ २॥

अर्थ—ज्ञानका सिद्धान्त मैंने समझाकर कहा (अब) भक्ति (रूपिणी) मणिकी प्रभुता सुनिये॥ १॥ हे गरुड़! श्रीरामभक्ति (रूपिणी) सुन्दर चिन्तामणि जिसके हृदयके भीतर बसे॥ २॥

नोट—१ गरुड़जीका वचन है कि ***'कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥'*** (११५। ८) अतः भुशुण्डिजीके ***'कहेउँ ग्यान सिद्धांत बुझाई'*** इस वाक्यसे यहाँ ज्ञान-सिद्धान्तका उपसंहार जनाया। ***'सकल कहहु॥'*** (११५। ११) के सकलमेंसे एकको यहाँतक कहा, अब आगे भक्तिको चिन्तामणिके रूपकद्वारा वर्णन करते हैं। ***'सुनहु'*** से दूसरे प्रसङ्गका आरम्भ जनाया।

करु०—***'बुझाई'*** में एक भाव यह भी ध्वनिसे निकलता है कि मैंने वह सब कहा जिस प्रकार ज्ञान (दीपक) बुझ गया।

वि० त्रि०—***'कहेउँ ग्यान सिद्धांत ...... प्रभुताई'*** इति। (क) ज्ञानका सिद्धान्त कहा पर भक्तिकी प्रभुता कहते हैं। भाव कि सिद्धान्त तो दोनोंका एक ही है, यथा—***'भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।'*** अतः भक्तिका सिद्धान्त पृथक् नहीं लिखते, केवल प्रभुतामें भेद है उसीका कथन करते हैं। (ख) ***'बुझाई'*** का भाव कि वह सिद्धान्त न तो कहते बने न समझते; अतः दृष्टान्त दे-देकर इस ज्ञान-दीपक-प्रसङ्गमें समझाकर कह दिया। (ग) ***'बुझाई कहेउँ'*** कहकर ज्ञानप्रकरणकी समाप्ति कही। (घ) ***'भगति मनि'***—मणि कहनेका भाव कि ममताके तागोंके संसारसे छूटकर भगवच्चरणोंमें लग जानेसे मन खींचातानीसे बचकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी दशा अभिजात मणिकी-सी हो जाती है। जिस भाँति स्फटिकमणि अपने उपाश्रयके रङ्गसे रँग जाती है, जवाकुसुमके सन्निधानसे लाल प्रतीत होने लगती है, इसी भाँति ग्रहीता पुरुषके आलम्बनसे उसीके रङ्गमें रँग जाता है। इसीलिये भक्तिको मणि कहा। (ङ) **प्रभुताई**=करने, न करने और अन्यथा करनेका सामर्थ्य।

वै०—***'सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई।'*** **प्रभुताई**=ऐश्वर्य। वह यह कि ज्ञानदीपक सबाध्य है, स्वरूपतः सामान्य है और भक्तिमणि अबाध्य, विशेष स्वरूपतः अखण्ड, अजर, अमूल्य और सदा एकरस प्रकाशमान है। अब भक्तिमणिकी जाति, स्वरूपादि सब गुण कहते हैं।

रा० शं०—चिन्तामणि चिन्तित वा वाञ्छित पदार्थकी देनेवाली है, इसीसे गुण तथा स्वरूपसे सुन्दर कहा।

वि० त्रि०—***'रामभगति चिंतामनि ......'*** इति। (क) भक्ति व्यर्थ नहीं जाती चाहे जिस भाँतिकी हो। जो जिसको भजता है उसीको प्राप्त होता है। भजनीयमें जितना गुणोत्कर्ष होता है, भक्तिकी महिमा भी उतनी ही बढ़ती है। श्रीराम ब्रह्म हैं, अतः रामभक्तिमें उत्कर्षताकी पराकाष्ठा है। (ख) मणिके चार गुण हैं—जाति, शुचिता, अमूल्यता और सुन्दरता। यथा—***'मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती।'*** यहाँ चिन्तामणि कहकर दिव्य जाति बतलायी और वह अमूल्य तो है ही ***'असन बसन सब बस्तु बिबिध बिधि मनिमहँ बस जैसे।'*** (दोहावली) जिसमें सब कुछ बसे उसका मूल्य क्या? इसी भाँति रामभक्ति चिन्तामणिमें सब शक्ति है। वह आर्तका संकट हरती, अर्थार्थीको अणिमादि देती, जिज्ञासुको गूढ़ गतिका ज्ञान प्रदान करती और ज्ञानीके ज्ञानको अचल करती है। अन्य देवताओंकी भक्ति मणि है पर रामभक्ति सब कुछ देती है इससे चिन्तामणि है। (ग) 'सुन्दर'—भाव कि मणिसे पुरुषकी शोभा होती है, वैसे ही रामभक्तिको हृदयमें धारण करनेसे पुरुषकी शोभा होती है। यथा ***'सोह सैल गिरिजा गृह आए। जिमि जन रामभगति के पाए।'***

वै०-***'बसै'*** का भाव कि हृदयमें श्रीरामानुराग सदा स्थिर होकर बना रहे। [भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिये, यह जनाया। (वि० त्रि०)]

वि० त्रि०—*'गरुड़'* का भाव कि आप स्वयं भगवान् गरुड़ध्वजको पीठपर चढ़ाये घूमते हैं, सो आपको भी मोह हो गया। अत: शारीरिक भजन यथेष्ट नहीं है। भक्तिको हृदयके भीतर स्थान देनेसे फिर मोह नहीं होता। *'उर अंतर'* का भाव कि बाह्यलिङ्ग-धारण अकिञ्चित्कर है। इन शब्दोंमें रामभक्तिकी अलौकिक सुन्दरता कही। मणि उरके ऊपर शोभा देती है और रामभक्ति भीतर बसकर शोभा देती है।

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥ ३॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—दिन-रात वह परमप्रकाशरूप रहता है। उसको दीपक, घी या बत्ती कुछ भी न चाहिये॥ ३॥ मोहरूपी दरिद्र पास नहीं आता, न लोभरूपी पवन उसे कभी बुझाता है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'परम प्रकास।'* ज्ञानदीपकको *'तेज रासि'* और उसकी शिखाको *'परम प्रचंड'* कहा था, उसीकी जोड़में यहाँ *'परम प्रकास रूप'* कहा। [*'परम'* से 'सहज बिना यत्नका' भी जनाया—रा० प्र०] (ख) *'दिन राती'* का भाव कि दीपक तथा साधारण मणियोंका प्रकाश सूर्यके प्रकाशमें लय हो जाता है, रातहीमें उनका प्रकाश होता है, दिनमें नहीं। और भक्ति-चिन्तामणिका प्रकाश दिन-रात सदा एकरस बना रहता है।

वै०—१ *'परम प्रकास रूप……।'* भाव यह कि भक्त हृदयमें रघुनाथजीका रूप बसाये हुए हैं, इसीसे उस रूपका प्रकाश सहज ही फैला हुआ है। यथा *'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥'* (२। २९५। ७) वहाँ सब बातोंका ज्ञान हृदयमें बना रहता है, इसीसे वहाँ समता, दीवट, ज्ञानघृत आदि कुछ न चाहिये। प्रभुकी माधुरी देख सब इन्द्रियोंकी वृत्ति तथा मन-चित्तादि सब बटुरकर आप ही चकोरवत् आसक्त रहेंगे किसीके थिर करनेकी जरूरत न रह जायगी।—आ० १२ देखो। यह प्रकाश गुण है। २—मोहको दरिद्र कहा, द्रारिद्र्य भारी दुःख है वैसे ही मोहकृत अज्ञता दुःख है।

वि० त्रि०—*'परम प्रकास रूप'*—मणिकल्प चित्तसे जैसा उपाश्रयका प्रकाश होता है, वैसा ही प्रकाश आता है। श्रीरामजी परमतत्त्व होनेके कारण परम प्रकाशमय हैं, यथा *'जोगिन्ह परमतत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।'* अतएव उनमें लगा हुआ चित्त भी परमप्रकाशरूप हो जाता है। इसीलिये रामभक्तिको परमप्रकाशमय कहा। *'दिन राती'*—मणि रातको तो उजेला करती ही है, दिनको सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे और भी चमकने लगती है। वैसे ही रामभक्ति मोह-तमका नाश करती हुई तो शोभित होती ही है; भगवत्-साक्षात्कारके समय और भी देदीप्यमान हो उठती है, क्योंकि वही उसके अत्यन्त उत्कर्षका समय है, यथा—*'सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये।'*

नोट—२ *'नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।'* ज्ञानके रूपकमें विज्ञानमयरूपी दीपक, ज्ञानरूपी घृत और तुरीयारूपी रूईकी बत्तीकी आवश्यकता कही, उनके एकत्र करनेपर तब आत्मानुभव सुखरूपी प्रकाश प्राप्त हुआ और यहाँ उनकी सहायताकी आवश्यकता ही नहीं। यह भक्ति चिन्तामणि सहज ही परम प्रकाशरूप है, उसको ज्ञान-विज्ञानकी अपेक्षा नहीं। यथा—*'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।'* ये कुछ न चाहिये, क्योंकि ज्ञानका दीपक बाह्यान्तर उपायसे सिद्ध हुआ है और मणिरूप भक्ति निरुपाय सिद्ध है, केवल उपायशून्य शरणागतिसे परमेश्वरकी कृपासे भक्तिमें स्वयं प्रकाश निरुपाधि है। (करु०)

नोट—३ *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।'* (क) चिन्तामणि दरिद्रताका नाशक है, जिसके पास चिन्तामणि है उसे तो मनोरथ करते ही अर्थ-धर्म-काम प्राप्त होते हैं तब वहाँ दारिद्र्य कैसे आ सके? (ख) ज्ञानके प्रसङ्गमें *'मोह आदि तम मिटै'* कहकर जनाया कि वहाँ मोह था सो कुछ देरके लिये सिमिटकर दीपकके तले आ गया और यहाँ *'नहिं आवा'* से भक्तिकी उत्कृष्टता दिखायी कि मोह पास ही नहीं आता, मिटानेकी तब बात ही क्या? वहाँ अविद्याके अञ्चलवातसे तथा विषय-समीरसे दीपक बुझ जाता है, यहाँ वात पास आनेपर भी नहीं बुझा सकता।

करु०—ज्ञान-पुरुष और माया-स्त्री दोनोंका मोहरूपी दारिद्र्यसे सम्बन्ध रहा है और *'ज्ञान विषे झीनी लोभवासना रूप पवन'* उलझ गया है और भक्ति-चिन्तामणि विषे (के सम्बन्धमें) मोहका कारण ही नहीं है, इसे लोभ-पवन बुझा नहीं सकता; क्योंकि जो कुछ यहाँ आता है वह रामार्पण होनेसे निर्विघ्न है।

पं०—अर्थात् भक्तिके प्रभावसे मलिन संकल्प उपजने ही नहीं पाते।

रा० प्र०—'और मोह तम दरिद्र है प्रकाश लक्ष्मी' यह लोकोक्ति है।

वै०—ज्ञान-दीपकमें अनेक भाँतिके देहसुखको लोभ-वासनादि पवन बुझा देती है। वह लोभरूप वात वा बयारि इस मणिके प्रकाशको नहीं बुझा सकती। अर्थात् जब संसारके सारे व्यवहारमें भक्ति अमल बनी रहती है, वहाँ लोभ भी बाधक नहीं होता, क्योंकि भक्त तो सभी व्यापार रघुनाथजीका ही मानते हैं, लोभ भी श्रीरामजीके ही हेतु हैं, भक्तको उससे क्या वास्ता?

पं० श्रीकान्तशरण—मोह देहाभिमानको कहते हैं, इसमें दरिद्रता यह है कि शरीर-पोषणके लिये संसारभरकी वस्तुओंसे भी मनोरथ-पूर्ति नहीं हो सकती। कुछ-न-कुछ कमी रूपी दरिद्रता रहती है। वह मोह भक्ति-मणिके पास भी नहीं आता, क्योंकि भक्तिके द्वारा भक्तके इन्द्रिय अन्त:करणको अहर्निशि दिव्य सुख मिला करता है, जैसे चिन्तामणिसे अर्थ, धर्म, काम प्राप्त होते रहते हैं। इन्द्रियोंको जब दिव्य भोग मिलता है तब वे प्राकृत विषयोंका लोभ क्यों करेंगी। यथा—*'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥'* (२। ८४)

वि० त्रि०—*'मोह दरिद्र……'* इति। (क) मोह दरिद्र है; क्योंकि उसके भाग्यमें *'मुनिजनधन'* (राम) नहीं है। इसीसे वह चोरी करता है; यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा।'* मदादि शलभ होनेके कारण चोरीमें सहायक होते हैं, अत: इनकी भी चोरीमें गणना है। उजालेमें चोरी नहीं करते बनता, इसलिये वे दीपकको बुझा देते हैं। (ख) *'निकट नहिं आवा'* भाव कि जितनी ममताकी वृत्तियाँ हैं, वे तो एकीभूत होकर श्रीरामपदमें लग गयीं और ममताकी वृत्तियोंको ही संसारमें लगाकर मोह अपना अधिकार जमाता है। अत: अब उसे निकट जानेके लिये मार्ग ही नहीं रह गया। (ग) *'लोभ बात'* से तात्पर्य विषयसमीरसे है। सगुणब्रह्म श्रीराममें यावत् विषय दिव्यातिदिव्यरूपमें वर्तमान हैं, अत: उनमें लगी हुई वृत्ति तुच्छ विषयोंकी ओर नहीं दौड़ सकती। यथा—*'देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥'*, *'रामु काम सत कोटि सुभग तन॥'* (९१। ७) से *'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै॥'* (९२) (घ) *'नहिं ताहि बुझावा'*—भाव कि रामरंगमें रँगे हुए मनपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। यथा *'सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥'*, *'सूर स्याम की कारी कमरिया चढ़ै न दूजौ रंग।'*

प० प० प्र०—*'परम प्रकास रूप……'* इति। भक्ति-चिन्तामणि सहज ही परमप्रकाशरूप है, वह अन्य साधनसापेक्ष नहीं है—*'सो सुतंत्र अवलंब न आवा'*, *'भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी।'* श्रीरामजीके सम्बन्धमें कहा है कि *'सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥'* (१। ११६। ६) और भक्ति सहज परम प्रकाशरूप है। इससे सिद्ध हुआ कि भक्ति भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है। नामवन्दना-प्रसङ्गमें नामको रामसे श्रेष्ठ बता आये हैं। अयोध्याकाण्डमें *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी'* से गुरुकी श्रेष्ठता कही है और आगे *'राम तें अधिक राम कर दासा'* से रामभक्तको श्रेष्ठ कहा है। इस तरह रामनाम, रामभक्ति, रामभक्त और गुरु चारोंको श्रीरामजीसे श्रेष्ठ सिद्ध किया, कारण कि श्रीरामजी इन चारोंके वशमें रहते हैं—*'भगति अबसहि बस करी।'*

'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' इति। *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'* है, अत: जब मूल ही नहीं तब अङ्कुर, तरु, शाखा, पल्लव, फल आदि कब पैदा होंगे। सभी दु:ख-सुखादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जायगा।

प्रबल* अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ ५॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥ ६॥

* 'अचल'—(रा० प्र०)। रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'प्रबल' पाठमें जीवका अविद्या तम आवेगी।

अर्थ—अविद्याका प्रबल अन्धकार मिट जाता है। समस्त (मदादि) पतङ्गसमुदाय हार बैठता है॥ ५॥ कामादि दुष्ट उसके निकट नहीं जाते कि जिसके हृदयमें भक्ति बसती है॥ ६॥

नोट—१ ☞मोह दरिद्रके साथ निकट *'नहिं आवा'* कहा और कामादिके साथ *'निकट नहिं जाहीं'* कहा। इस भेदमें क्या भाव है? मिलान कीजिये—*'अति खल जे बिषई बक कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥ संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥'* (१। ३८। ३—५)

नोट—२ *'प्रबल अविद्या तम……'* इति। (क) ज्ञानदीपकमें अविद्याके परिवारका नाश कहा था। यथा—*'प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥'* (११८। ३) और भक्ति-चिन्तामणिसे स्वयं अविद्याका नाश कहा, यह विशेषता है। [भक्तोंके अविद्यात्मक भाव *'मैं' 'मोर'* प्रभुको अर्पित रहते हैं, यथा **'मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।'**(आलवन्दारस्तोत्र ५६) जब वह अविद्या ही नहीं रह गयी तब उसका परिवार कहाँसे आवेगा। (सि० ति०) प्रबल अर्थात् जो किसीके मिटाये नहीं मिट सकता। अविद्या-तम अर्थात् देहव्यवहारमें ममत्व, उसे अपना मानना इत्यादि प्रबल अविद्या-तम सहज ही मिट जाता है; भाव कि यावत् सम्पत्ति है वह सब रघुनाथजीकी है, यह बुद्धि हो जाती है। यही प्रकाश है। (वै०) पुनः, *'प्रबल'* का भाव कि तम तो नित्य ही मिटा करता है, पर यह अविद्या-तम बड़ा प्रबल है, यह अनादिकालसे आजतक चला आ रहा है, अगणित उपाय जन्म-जन्मान्तरसे करते चले आये हैं पर यह न मिटा। यह अविद्या-तम अभिमान है, यथा—*'त्यागहु तम अभिमान।'* श्रीरामपदारविन्दके आश्रित होनेसे वे इसको मिटा देते हैं। यथा *'ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥'* (वि० त्रि०)]

(ख) *'सकल सलभ।'* ज्ञानदीपक-प्रसङ्गमें *'मदादिक'* को शलभ कहा। यहाँ नाम न देकर उन्हींको यहाँ भी शलभ सूचित किया। वहाँ दीपकका जलना कहा, अतः उसमें पतङ्गोंका जलना कहा और यहाँ *'मणि'* कहा, अतः यहाँ शलभका जलना न कहा वरन् *'हारहिं'* कहा। [*'हारहिं'* से यह भी जनाया कि फिर वे कभी पास आने और उसे बुझानेका प्रयत्न एवं साहस भी नहीं करते। नारद, गरुड़ और भुशुण्डिमें अविद्यामाया नहीं है, विद्या माया थी। (प० प० प्र०) *'हारहिं सकल सलभ……'* अर्थात् मणिकी ओर उद्यत नहीं हो पाते। भाव कि भक्तिका प्रभाव यह है कि मलिन संकल्प उपजने नहीं पाते। (पं०) पुनः भाव कि जैसे मणिदीप शलभको जला नहीं सकता, पर स्वयं बुझता भी नहीं, शलभसमुदाय जोर लगाकर हार जाते हैं, वैसे ही भक्ति मद-मानको नष्ट नहीं कर सकती, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* पर मद-मानादि उसका अपकार भी नहीं कर सकते। यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिउ ओरा॥'* (वि० त्रि०)] कामादि खल हैं। ये अकारण ही मुनियोंके मनमें भी विकार उत्पन्न कर देते हैं, यथा—*'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥'* (३। ३८) कामादि अर्थात् काम और क्रोध *'निकट नहिं जाहीं'* तब हानि क्या पहुँचा सकते हैं। [भक्तोंकी समस्त कामनाएँ तथा इन्द्रियाँ भगवान्‌में ही लगी रहती हैं। वे समस्त सुखकारी पदार्थोंका भी दास्य-भावसे प्रसाद सेवन करते हैं, विषयभोगकी इच्छासे नहीं। यथा **'कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया……'**।'(भा० ९। ४। २०) अतः दूसरी (विषय) कामना वहाँ कहाँसे आ सके। (वै०) पुनः भाव कि विषयका ध्यान करनेसे उसका सङ्ग होता है और सङ्ग होनेसे काम होता है। भक्त अनवरत अपने प्रभुके ध्यानमें रहता है, उन्हींमें उसका चित्त लगा रहता है, अन्य विषयोंकी ओर उसका ध्यान ही नहीं आकर्षित होता और बिना ध्यानके सङ्ग नहीं होता और बिना सङ्गके कामकी उत्पत्ति ही नहीं होती; अतः काम सदा दूर ही रहता है। क्रोधकी उत्पत्ति तो कामके भी बाद होती है अतः वह और भी दूर है। इसीसे कहा कि 'निकट नहीं जा सकते।' *'उर माहीं'* का भाव *'बसे गरुड़ जाके उर अंतर'* उपक्रममें लिखा गया है। (वि० त्रि०)]

पं० रा० प्र०—*'खल कामादि'* चोर हैं, यथा—*'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥'……*

तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥ अति करहिं उपद्रव नाथा॥' (वि० १२५) चोरोंको चाँदनी नहीं भाती—*'चोरहिं चाँदनि राति न भावा।'* अतः इनका निकट न जाना कहा। चोर प्रकाशसे डरते हैं वैसे ही भक्तिकी महिमा देखकर कामादिक निराश हो जाते हैं।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥ ७॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥ ८॥

अर्थ—विष अमृतके समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता॥ ७॥ भारी मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुःखी रहते हैं, उसको नहीं व्यापते॥ ८॥

नोट—१ *'गरल सुधा सम······'* कहकर जनाया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसपर श्रीरघुनाथजी कृपादृष्टि रखते हैं, यथा—*'गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥'* (सुं० ५। २-३)

वि० त्रि०—ब्रह्मसृष्टिमें गुण-अवगुण मिला हुआ है। यहाँ विषमें अमृत और अमृतमें विष है, शुद्ध विष या शुद्ध अमृत कोई पदार्थ नहीं है। अतः सुख-बुद्धिसे ग्रहण किये हुए पदार्थमें भी दुःख मिलता है। यही जगत्‌का नियम है। परंतु जिसके हृदयमें भक्ति बसी है, वहाँ यह नियम अन्यथा हो जाता है। उसके लिये विष भी अमृतके समान हो जाता है। उसकी भावना दृढ़ होनेके कारण वस्तुविशेष अपने हानिकारक गुणको प्रकट करनेमें असमर्थ हो जाती है। यथा—*'पापी है बाप बड़े परिताप ते आपनी ओर ते खोरि न लाई। भूरि दई विष मूरि भई प्रह्लाद सुधाई सुधाकी मलाई।'* *'अरि हित होई'*—भाव कि चाहे वह बुराई ही करे, पर उससे भक्तका उपकार ही होता है। यथा *'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा॥'* *'गरल सुधा सम'* कहकर जड़का गुण-परिवर्तन और *'अरि हित होई'* से चेतनमें भी गुणोंका परिवर्तन कहा। भक्तिकी दृढ़भावनासे चेतन-शक्ति जाग उठती है, उसके सामने जड़-शक्तिकी कुछ नहीं चलती। यथा—*'काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे। राम कहाँ? सब ठाउँ में, खंभ में? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे।······'*

पां०, वै०—चिन्तामणिका गुण है कि जो धारण करे उसे विष बाधा नहीं करती और कैसा भी शत्रु क्यों न हो सम्मुख आते ही शत्रुता छोड़ देता है। भक्तिमणिका प्रभाव कि लोमशशाप विषवत् था सो अमृतसम हो गया, वे शत्रु हो गये थे सो मित्र हो गये।

पं०—चिन्तामणि धारण करनेवालेको रोग नहीं होता। भक्ति-चिन्तामणिवालेको मानस-रोग नहीं होते।

सि० ति०—इन्द्रिय-विषय ही विष है, यथा—*'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥'* इन्द्रियोंके विषय भगवान्‌को ही बनाना भक्ति है, वे ही विषय भक्तिरूपमें अमृत होकर जन्म-मरणके नाशक होते हैं। इन्द्रियोंके साथ मन ही विषयी होनेसे जीवका शत्रु है और वही भक्तिनिष्ठ हो जानेसे मित्र हो जाता है; यथा—**'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥'**(गीता ६। ५)

रा० प०—भाव कि अहंकार जो विषरूप है सो दास बन जाता है और कामादिक शत्रु भक्ति-वैराग्यरूप हो जाते हैं। अहंकार और विष दोनोंका स्थान सिर है।

नोट—२ *'तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।'* इति। श्रीरामजी आनन्दसिन्धु सुखराशि हैं, उस आनन्दसिन्धुके एक सीकरसे त्रिलोकीका सुपास होता है, अतः उन सुखराशिकी भक्तिके बिना सुख कहाँ? यथा—*'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ हृदय न थिराने॥ यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने। तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने॥'* (वि० २३५)*'ऐसी मूढ़ता या मन की। परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥ धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की। नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि हानि होति लोचन की॥'*

३—*'ब्यापहिं मानस रोग न भारी।······'* इति। (क) मानस रोगोंका विस्तृत वर्णन वक्ताने स्वयं गरुड़जीके प्रश्नपर आगे किया है। इनको *'भारी'* कहा, क्योंकि ये असाध्य हैं, किसी चिकित्सासे नहीं जाते। यथा—*'एक*

ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।' (१२१) मोह समस्त मानस-रोगोंका मूल है, यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* (१२१। २९) जब वह *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा'* तब उसके कार्य कब व्याप सकते हैं। (ख) *'जिन्ह के बस सब जीव दुखारी',* यथा—*'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा।'* (१२१। २८) *'पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।'* (१२१) न व्यापना कहकर जनाया कि उसको सहज ही समाधि लग जाती है। [(ग) 'मानसरोग नहीं व्यापते' का भाव कि वे भोग रूप हो जाते हैं। ये विष हैं सो अमृत हो जाते हैं, जैसे शोधी संखिया। उस मणिके पास रहनेसे भारी रोग नहीं व्यापते जैसे बेलकी जड़से सर्प पास नहीं आते]

रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ ९॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥ १०॥

अर्थ—श्रीरामभक्तिरूपी मणि जिसके हृदयमें बसती है उसको (जाग्रत्‌का कौन कहे) स्वप्नमें भी लेशमात्र दुःख नहीं होता॥ ९॥ संसारमें वही लोग चतुरोंमें श्रेष्ठ हैं जो मणिके लिये पूर्ण यत्न करते-कराते हैं॥ १०॥

वि० त्रि०—*'रामभगति मनि उर बस……'* इति। (क) *'रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥'* कहकर भक्तिमणिका कर्तृत्ववर्णन प्रारम्भ किया, फिर *'बसै भगति जाके उर माहीं'* से भक्तिमणिकी अन्यथा कर्तृत्वशक्तिका निरूपण आरम्भ किया, अब *'रामभगति मनि उर बस जाके'* से अकर्तृत्व शक्तिका वर्णन करते हैं। *'उर बस जाके'* का भाव यह है कि करने अथवा अन्यथा करनेसे भक्तिमें कोई विकार नहीं आता, क्योंकि स्वयं भक्ति कुछ करने नहीं जाती, उसके हृदयमें अवस्थान करनेमात्रसे सब कुछ हो जाता है। सब कुछ करके भी नहीं करना यही अलेपवाद है। (ख) *'दुख लवलेस न'*—कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही कर्मफल भोगना पड़ता है। भक्तिमणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है, क्योंकि भक्त सर्वात्मना भगवान्‌पर निर्भर है, उसने अपनी स्थितिको परमेश्वरके अर्पण कर रखा है, उसकी दृढ़ धारणा होती है कि परमेश्वर ही सबका प्रेरक है और जीव उसके हाथकी कठपुतली है। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥', 'नट मर्कट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (ग) *'सपनेहु'*—भाव कि जाग्रत्‌के संस्कारानुसार ही स्वप्न होता है। भक्तकी उपर्युक्त धारणा ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी उसे कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः स्वप्नमें भी दुःखकी सम्भावना नहीं रह जाती।

रा० शं०—तीन प्रकारके चतुर उत्तरोत्तर यहाँतक दिखाये गये—१ विज्ञानी मुनि जो भक्तिकी याचना करते हैं, मोक्षसुख प्राप्त कर चुके हैं। २ *'हरिभक्त सयाने'* जो मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिमें लुब्ध हैं। ३ चतुरशिरोमणि—जो मुक्तिका न निरादर ही करें, न आदर, उसमें उदासीनभाव है, उसके लिये अपना किञ्चित् भी समय नहीं देते केवल भक्तिके लिये यत्न करते हैं।

नोट—*'सुजतन कराहीं'* इति। भाव कि तन-मन-धनसे इसीमें लगे हैं। इससे उसको परम अलभ्य जनाया। क्या यत्न करते हैं, कैसे वह प्राप्त होती है, यह आगे कहते हैं। मणि पर्वत आदिकी खानिमें होती है, यत्नसे मिलती है, इसीसे भक्तिमणिकी प्राप्तिके लिये 'सुयत्न' करना कहा। ☞ जो भक्ति करते हैं, जो भक्तिकी याचना करते हैं वे सब चतुर, सयाने वा प्रवीण हैं, यथा—*'सुनु बायस तैं सहज सयाना। ……सब सुख खानि भगति तैं माँगी।', 'रामहिं भजहिं ते चतुर नर'* और *'चतुरसिरोमनि……।'*

वि० त्रि०—*'चतुरसिरोमनि तेइ……'* इति। (क) जिसमें अल्पायाससे महान् फल हो, ऐसा उपाय करनेवाले ही चतुर हैं। अतः आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चतुर ठहरे, क्योंकि *'चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।'* परन्तु फलकी महत्तापर भी जिसका ध्यान गया हो वह चतुरशिरोमणि है। पुनः, मोहान्धकारमें पड़े रहनेवाले मूढ़ हैं, निरुपास्ति ज्ञानी भी हठी हैं, साधन-भक्तिके सहित सिद्धिलाभ करनेवाले चतुर हैं और फलस्वरूपा भक्ति-चिन्तामणिके लिये यत्न करनेवाले चतुरशिरोमणि हैं। (ख) *'जग माहीं'*—भाव कि संसारमें ऐसे प्राणी सुदुर्लभ हैं, जिनके लिये भक्ति ही साधन और फल सिद्धि है, जो प्रेमसे प्रेमको ही चाहते हैं। यथा—*'परौ नरक फल चारि सिसु नीच डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ।'* (ग) *'सुजतन'*—दत्तचित्त

होकर सावधानीके साथ शास्त्रीय प्रयत्न करना ही सुयत्न है। यथा—'*श्रुति संमत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।*' जो अशास्त्रीय प्रयत्न करते हैं उनको न सिद्धि होती है न परागतिकी प्राप्ति।

नोट—☞ यहाँतक भक्तिमणिकी प्रभुता कही।

(भक्तिमणिकी प्राप्तिके उपाय)

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ ११॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहि भटभेरे॥ १२॥

अर्थ—यद्यपि वह मणि जगत्‌में प्रकट है तो भी बिना रामकृपाके उसे कोई नहीं पाता॥ ११॥ इसकी प्राप्तिके सुगम उपाय हैं पर भाग्य फूटे हुए मनुष्य उनको ठुकरा देते हैं॥ १२॥

नोट—१ (क) '*सो मनि*' अर्थात् जिसकी प्रभुता ऊपर '*रामभगति चिंतामनि सुंदर।*' (चौ० २) से '*दुख लवलेस न सपनेहु ताके।*' (चौ० ९) तक कह आये वह भक्ति-चिन्तामणि।

रा० शं०—'*सो मनि जदपि प्रगट*......' इति। ऊपर जो कहा कि '*चतुर सिरोमनि*......*मनि लागि सुजतन कराहीं*', चतुरशिरोमणि सुयत्न करते ही रहते हैं, इस कथनसे भक्तिमणि अगम जान पड़ी, अत: कहते हैं कि वह 'प्रकट' है पर रामकृपासे मिलती है और उपाय भी कठिन नहीं; जैसे अन्धेके पैरमें कोई बहुमूल्य वस्तु लगे और वह उसे कंकड़-पत्थर जानकर न उठावे वरन् ठुकरा दे वैसे ही अभागा मनुष्य इस प्रकट मणिको नहीं ग्रहण करता।

वै०—'*प्रगट जग अहई*' अर्थात् गुप्त नहीं है, पुराणादिद्वारा सभी सुनते हैं। प्रकट है, तब मिलती क्यों नहीं, क्या कारण है? उसपर कहते हैं कि भक्तिमणि पानेके तो उपाय सुगम हैं, उसके साधन अगम नहीं हैं—['*सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी*'—आ० १६ (५) देखो। और प्रभुकी कृपा तो एकरस सभी जीवोंपर है, पर न मिलनेका कारण यह है कि हतभाग्य (*भवभंजन-पद-विमुख-अभागी*) मनुष्य उसका मिलन-संयोग पाकर भी उसे ठुकरा देते हैं]

वि० त्रि०—(क) '*प्रगट जग अहई*'—भाव कि उस शाश्वत जगद्गुरु रामने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेदशास्त्रोंका उपदेश कर रखा है और उपदेशपरम्परासे जगत्‌में उसका प्रचार बराबर होता आ रहा है; यथा '**जगद्गुरुं च शाश्वतम्। तुरीयमेव केवलं॥**', '*निगम निज बानी*' उसी वेदशास्त्रमें भक्ति भरी पड़ी है। (ख) '*रामकृपा बिनु*'—करुणासागर श्रीरामकी अहैतुकी कृपासे ही जीवको कभी मनुष्य-शरीर मिल जाता है और मनुष्य-शरीर ही भवसागर-संतरणके लिये नौकास्वरूप है। ऐसा शरीर पाकर उनका अनुशासन मानना चाहिये। अनुशासन माननेवाला ही उनको प्रिय है, उसीपर उनकी कृपा होती है। यथा '*सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥*' वेदशास्त्र उनका अनुशासन है। अत: वेदशास्त्रानुगामीपर उनकी कृपा होती है। (ग) '*नहिं कोउ लहई*'—भाव कि अशास्त्रीय पुरुषार्थसे भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं, चाहे पुरुषार्थ करनेवाला कैसा ही पराक्रमी क्यों न हो। यथा—'*जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ सुखद सदा हितकारी। सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥ जिमि सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै*' (विनय०)। शास्त्रीय पुरुषार्थसे भगवत्कृपा होती है, उससे भगवत्प्रभुताका ज्ञान होता है, इससे विश्वास, विश्वाससे प्रीति और प्रीतिसे दृढ़ भक्ति होती है। यथा—'*रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥ जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।*'

रा० प०—'*प्रगट जग अहई।*' भाव कि सकल जगत्‌के पदार्थ ही भक्तिमणिरूप हैं, परंतु ऐसी समझ दुर्लभ है। जगत् रामका विहार है यह किसी-ही-किसीने लख पाया। रामकृपा बिना दिखायी नहीं पड़ता। '*रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।*'

नोट—'*सुगम उपाय*'—भाव कि इसमें जप-तप-यज्ञ-उपवास आदि कठिन साधन कोई नहीं हैं। यथा— '**कहहु**

भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा…… ॥' (४६। १) इत्यादि। ज्ञानके उपाय दुर्गम हैं।

नोट—'*भटभेरे*'—इसके तीन अर्थ हिन्दी-शब्दसागरमें हैं। १—दो वीरोंका सामना, भिड़न्त। २—धक्का, टक्कर, ठोकर, यथा—'*कबहुँक हौं संगति सुभाउ तें जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो॥*' (वि० १४३) ३—आकस्मिक मिलन।—यहाँपर दूसरा अर्थ सङ्गत है। वीरकविजीका मत है कि यह मुठभेड़का विपर्यय है। मुठभेर सामनेको कहते हैं और भटभेर पीछेको वा धक्का देकर किसी वस्तुको पीछे हटानेका बोधक है।

खर्रा—'*देहि भटभेरे*'—धक्का देकर उस उपायको दूर कर देते हैं।

करु०—'*देहि भटभेरे।*' 'भाव कि जब किसी सुयोगसे सत्सङ्ग-भजनका मुहूर्त्त प्राप्त हुआ तब अभाग्यसे कोई विघ्न प्राप्त हो गया, यही भटभेरा है।'

पं०—भटभेरे देते हैं, अर्थात् भीतों-(दीवारों-) से माथा फोड़ते फिरते हैं। भाव कि सत्सङ्ग नहीं करते और तीर्थाटनादि कष्ट करते हैं।

रा० प्र०—'भेटभेरा'=आड़, रुकावट। कोई-कोई कहते हैं कि वस्तुकी प्राप्ति होनेपर उसको न पहिचानना 'भटभेरा' है, यथा—'*गली अँधेरी साँकरी भौ भटभेरो आनि*'

वि० त्रि०—'*देहि भटभेरे*' का भाव कि जो भवभञ्जन रामके चरणोंसे विमुख हैं, वे उनके अनुशासन वेदशास्त्रपर क्यों श्रद्धा करने लगे अतः वे मनगढ़ंत पथकी कल्पना करेंगे और अन्तमें सत्यमार्गसे परिभ्रष्ट होकर दुःख पावेंगे। ऐसे लोग अपनेहीको हानि नहीं पहुँचाते बल्कि दूसरोंको भी पथभ्रष्ट करते हैं। यथा—'*साखी शब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलि भगत निंदहिं बेद पुरान॥*'

पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ १३॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ १४॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुख-खानी॥ १५॥

अर्थ—वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं। नाना प्रकारकी रामकथाएँ उन-उन पर्वतोंकी सुन्दर खानें हैं॥ १३॥ सज्जन इन खानोंके भेदी हैं, सज्जनोंकी सुन्दर बुद्धि खोजनेवाली कुदाल है। हे गरुड़! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं॥ १४॥ जो प्राणी भावसहित खोजे वह सब सुखोंकी खानि भक्तिरूपी मणि पावे॥ १५॥

नोट—१ भक्तिको मणि कहते आ रहे हैं। मणिकी प्राप्तिका उपाय मणिका साङ्गोपाङ्गरूपक बाँधकर कह रहे हैं। मणि पर्वतोंकी खानोंमें होती है। जो खानोंके भेदी हैं वे ही जानते हैं कि अमुक-अमुक स्थानोंपर खानि हैं। जाननेपर भी खोदनेके लिये कुदाल चाहिये जिससे पर्वत खोदकर खानोंमेंसे वे मणिको प्राप्त करें। खोदकर मणि भी मिली तब भी परखनेवाली आँखें चाहिये, नहीं तो उत्तम मणि हाथ न लगेगा। इसी प्रकार भक्ति वेद-पुराणोंकी रामकथारूपी खानोंमें गुप्त है। पहले तो यही जानना कठिन है कि ये कथाएँ कहाँ-कहाँ हैं, इसका मर्म सन्त जानते हैं, उनका सङ्ग करनेसे वे बतायेंगे। यह भी जान गये कि अमुक-अमुक स्थानोंपर रामकथा है फिर भी बिना सुमतिके उनतक पहुँचना कठिन है। सुन्दर-बुद्धिसे उन कथाओंको ढूँढ़कर ज्ञानवान् और वैराग्यवान् होकर भावपूर्वक उन कथाओंको परखकर उसमेंसे श्रीरामभक्ति-चिन्तामणि प्राप्त कर ले। तात्पर्य यह है कि भक्तिके लिये सन्तोंका सङ्ग बहुत जरूरी है, साथ ही इसके सुमति, ज्ञान और वैराग्ययुक्त भी होना चाहिये। इसीसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने शबरीजीसे भक्तिके साधनमें सत्सङ्गको ही प्रथम कहा, यथा—'*प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।*' उसके पश्चात् '*दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥*' वही क्रम यहाँ भुशुण्डिजीने भी दिया है।

२ (क)—'*पावन पर्बत।*' सब पर्वत पावन नहीं होते, वेद-पुराण पावन हैं; अतः इनको पावन पर्वतकी उपमा दी। पावन पर्वतोंके दर्शनादिसे पाप नष्ट होते हैं। गोस्वामीजीने मुख्य प्रधान सात पर्वत गिनाये हैं। यथा—'*उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते।*

चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिधि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥' (२। १३८) वेद-पुराणोंमें अनेक प्रकारकी रामकथाओंकी खान हैं जिनके श्रवणकीर्तनसे पाप नष्ट होते हैं। अतः वेद-पुराणोंको पावन पर्वत कहा। कथाओंके भेदसे नाना प्रकारकी खानें मानी गयीं। यथा—*'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥'* (ख) खानि कहनेका भाव कि जितनी मणियाँ संसारमें हैं वे सब खानसे ही निकली हैं और जो संसारमें आवेंगी वे खानसे ही आवेंगी। इसी भाँति जितनी रामकथाएँ प्रचलित हैं वे वेद-पुराणसे ही निकली हैं, और जो प्रचलित होंगी उनका भी उद्गमस्थान वेद-पुराण ही होगा। जिस भाँति पत्थरोंसे खान ढकी रहती है, उसी भाँति त्रिवर्गकी कथाओंसे रामकथा छिपी हुई है। (वि० त्रि०) रामकथाके सम्बन्धसे खानिको *'रुचिर'* कहा। (ग) *'सुमति'* का भाव कि कुतर्कबुद्धि न हो, नहीं तो रामकथारूपी सुन्दर खानोंकी प्राप्ति न होगी। यथा—*'हरिहरपदरति मति न कुतर्की। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥ रामभगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥'* [सुमतिका भाव कि मन, चित्त और अहंकार एकत्र हों; यही सुमति है; (वै०)। *'कुदारी'* एकवचनके कहनेसे ही यह बात निकलती है कि मर्मीने ऐसा ठीक पता बतलाया कि अकेला आदमी कुदालसे खोदकर खानमेंसे मणि निकाल ले। सुमतिको कुदाल कहा क्योंकि सुमतिसे ही रामकथा ढूँढ़ निकाली जा सकती है, कुमति त्रिवर्गमें ही फँसकर रह जायगी, त्रिवर्गके पत्थरोंको हटाना उसके सामर्थ्यके बाहरकी बात है, उसे हित-अनहितकी पहिचान नहीं है। (वि० त्रि०)] (घ) *'ज्ञान-बिराग'*—नेत्र दो होते हैं अतः ज्ञान और वैराग्य दोकी उपमा दी। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं, दोनोंका साथ है—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिन।'* [कुदाल हुई, खान खोदी गयी, उससे मट्टीभरे मणि निकले। उनके पहिचाननेके लिये नेत्र चाहिये सो यहाँ ज्ञान और वैराग्य दोनों नेत्र हैं (वै०)। बिना ज्ञान-वैराग्यके वह कथा किसी साधारण राजकुमारकी इति-वृत्ति मालूम पड़ती है। (वि० त्रि०)]

बालकाण्डके प्रारम्भमें श्रीगुरुपदनखमणिगणज्योतिके स्मरणसे हृदयके विमल नेत्रों ज्ञान-वैराग्यका खुलना, दिव्यदृष्टि होना और उससे रामचरित मणिमाणिक्यका सूझना कहा है। मिलान कीजिये—*'श्रीगुरुपदनख-मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'* (१। १। ५—८)

उपर्युक्त उद्धरणमें गुरु, गुरुपदनखज्योति और दिव्य दृष्टिवाले निर्मल नेत्र कहे, वही यहाँ सज्जन, सुमति और ज्ञानवैराग्य हैं। वहाँ रामचरित मणिमाणिक्य वेदपुराणपर्वताकारमें हैं और यहाँ रामचरित ही वेदपुराणोंकी खानें हैं, वेदपुराण पर्वत हैं और भक्ति मणिमाणिक्य है। यह भेद है। (प्र० सं०) गुरुचरणोपासक अनुभवी लोग ही इसके मर्मी हैं, त्रिवर्गकी कथाएँ उनकी दृष्टिपर आवरण नहीं कर सकतीं, वे खानको दिव्यदृष्टिसे देखते हैं। वे कथाका स्थल भी बतला देते हैं और वह विधि भी बतला देते हैं जिससे कथातक पहुँच हो सके। (वि० त्रि०)

३ *'भाव सहित खोजै······'* इति। भावसहित खोजनेको कहा क्योंकि भगवान् *'भाववस्य'* हैं, 'भाव गाहक' हैं; दोहा ९२ देखो। ऊपर कहा है कि *'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहहीं।'* जब भावसहित खोज होगी तब प्रभु कृपा कर देंगे और वह मिल जायगी। यही बात अन्तमें कविने कही है—*'रामचरनरति जो चहै······भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान।'* (१२८) (ख) *'जो प्रानी'* अर्थात् ऊँच-नीच इत्यादि कोई भी हो। इससे भक्तिका सबको अधिकार कहा। (ग) *'सब सुखखानि'*······*'सब सुखखानि भगति तैं माँगी।'* (८५। ३) देखो।

रा० प्र०—१ पहले वेदपुराणादिमें खोजना कहा। इनमें सगुण-निर्गुण भाँति-भाँतिकी लीलाएँ मिलेंगी। निगमागमकी वाणी गम्भीर होती है, अतः सुन्दर बुद्धिसे उनमेंसे अर्थ निकाले। अपनी बुद्धि-ज्ञान जहाँ न चले वहाँ मर्मी संतोंकी बुद्धिसे काम ले। इस प्रकार रामभक्ति प्राप्त होगी। २—*'भाव सहित खोजै······।'* भावानुसार अनेक शास्त्र और रसादिक होते हैं।—[खर्रा—यहाँ खोजना=विचारना]

करु०—एक मर्मी तो ऐसे होते हैं कि स्वयं खोदकर मणिको निकाल लेते हैं, दूसरे वे हैं जो खानि बताकर मजदूरसे खोदवाते हैं। वैसे ही जो स्वयं प्रवीण शास्त्रवेत्ता संत हैं वे आप ही वेद-पुराणका विषय जानते हैं। जहाँ भक्तिमणि है वहाँसे सुमतिद्वारा बाँचकर (पढ़-समझकर) उसे निकाल लेते हैं। और, जो संत प्रवीण हैं पर शास्त्रादि नहीं पढ़े हैं वे किसी पण्डितसे वेद-पुराणमें खानि बताकर अर्थात् पढ़वाकर भक्तिमणि निकाल लेते हैं। और जो ज्ञान-वैराग्यनेत्र-हीन हैं, अर्थात् जहाँ श्रोता-वक्ता दोनों अंधे हैं, वहाँ कंकड़-पत्थर ही हाथ लगता है।

वि० त्रि०—'*भाव सहित*......' इति। खोजनेवालेको मणिका संस्कार होना चाहिये, उसे इस बातका परिज्ञान होना चाहिये कि मणि कैसी होती है। इसी तरह भक्ति चिन्तामणिके खोजनेवालेको यह संस्कार होना चाहिये कि भक्ति कैसी होती है। वेद-पुराणोंमें मर्मीके बतलानेके अनुसार रामकथाकी प्राप्ति होनेपर उसमें भक्तिको ढूँढ़े तो उसे अवश्य भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति होगी। यथा—'*रामचरनरति जो चहै*......'

प० प० प्र०—'*पाव भगति मनि*' इति। इस प्रसङ्गमें अभीतक 'मणि' शब्दका प्रयोग प्रत्यक्ष आठ बार किया गया। '*बसइ भगति जाके उर माहीं।*' (१२०। ६) में उसका अध्याहार है। इस प्रकार नौ बार मणि (भक्ति-चिन्तामणि) शब्दका प्रयोग करके यह सूचित किया कि यह मणि '९' अंकके समान अविकारी है, सबसे श्रेष्ठ है। इससे नवधा भक्ति (जो शबरीजीसे कही है) उसकी तरफ अङ्गुलि-निर्देश करनेका हेतु है।

सत्सङ्गकी महिमा

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥ १६॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा॥ १७॥

अर्थ—हे प्रभो! मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजीके दास श्रीरामजीसे भी बढ़कर हैं॥ १६॥ (क्या विशेषता है सो बताते हैं) रामचन्द्रजी समुद्र हैं तो धीरबुद्धि सज्जन मेघ हैं। भगवान् रामचन्द्रजी चन्दनके वृक्ष हैं सो संत पवन हैं॥ १७॥

नोट—१ ☞ इसी प्रकार बालकाण्डमें मानसमुखबंद ३६ (३-४) में वेद-पुराणको समुद्र और संतोंको मेघ कहा है। यथा—'*सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥*' इत्यादि। जो भाव वहाँ कहे गये हैं उनमेंसे बहुत-से यहाँ भी प्रसङ्गानुकूल हैं।

वि० त्रि०—(क) '*मोरे मन*' इति। भाव कि श्रुतिसम्मत सर्वमान्यसिद्धान्त तो यही है कि श्रीराम-समान कोई नहीं है, बड़ा कहाँसे होगा। पर शास्त्र-संस्कृतहृदय साधुका अनुभव ही प्रमाण है। यथा—'*उमा कहउँ मैं अनुभव अपना*', '*मोरे मत बड़ नाम दुहू ते।*' इसी तरह भुशुण्डिजी भी अपने मनका विश्वास कहते हैं। (ख) '*प्रभु*' का भाव कि आप श्रीरामजीके दास हैं, मैं आपको उनसे अधिक समझता हूँ। अतः श्रोता होनेपर भी आप हमारे प्रभु हैं। (ग) '*अस बिस्वासा*'—भाव कि महात्माओंका विश्वास अक्षयवटकी तरह अटल होता है, वह सदा अविकृत रहता है। महात्मा भुशुण्डिजी अपना वह विश्वास कहते हैं। (घ) '*राम कर दासा*'—दास और सेवकमें कुछ भेद है। सेवा करनेवाला सेवक है, सेवा-धर्म बड़ा कठिन है। इसमें स्वामीके मनमें अपना मन मिला देना होता है। अपने धर्मके सामने चारों फलका परित्याग करना पड़ता है, अपने हितके लिये स्वामीके मनमें क्षोभ आ जानेसे सेवा-धर्म बिगड़ता है, स्वामीके कार्यके लिये प्राण उत्सर्जन कर देनेमें सेवकका भाग्य है, फिर भी यदि वह चाहे तो सेवा छोड़ सकता है। पर दास ऐसा नहीं कर सकता, वह अपनेको स्वामीके हाथ बेच देता है, स्वामीका उसपर कृपा, कोप, वध और बंधका अधिकार होता है, उसे स्वामीकी ही गति है, दूसरेकी आशा भी नहीं है—'*जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।*' इसी भावसे यहाँ '*दास*' कहा।

नोट—२ '*राम ते अधिक*' यह कहकर दो दृष्टान्त देकर आधिक्य दिखाते हैं। (क) '*राम सिंधु घन सज्जन धीरा।*' समुद्र अगाध है, एक जगह स्थित है और सबको प्राप्त नहीं है। प्राप्त भी हो तो उसका

खारा जल पान करने योग्य नहीं। मेघ सिन्धुमेंसे मीठा-मीठा जल निकाल लेते हैं (खारा वहीं पड़ा रहता है) और सर्वत्र उसकी वर्षा करते फिरते हैं। इसी प्रकार सज्जन रामसुयश श्रेष्ठ मधुर मङ्गलकारी जलको प्राप्त करके उसे सर्वत्र बरसाकर सुलभ कर देते हैं, जो चाहे प्राप्त कर ले।—यहाँ साधारणतया इतनेहीमें उपमा है। भाव कि सिन्धु सबको प्राप्त होना कठिन है, मेघ उसे सर्वत्र पहुँचा देते हैं, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति कठिन है, पर सज्जनद्वारा वे सबको सुलभ हो जाते हैं।

सिंधुमें खार और मीठा जल क्या है? निर्गुण और सगुण ये दोनों स्वरूप रामजीके हैं, यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने', 'राम सरूप सिंधु समुहानी।'* सगुणयश मीठा जल है अर्थात् राम-भक्ति और राम-सुयश उसमें गङ्गा-सरयू आदिका मीठा जल है। यथा—*'रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥'*......*'राम सरूप सिंधु समुहानी।'* तथा—*'बरषहिं राम सुजस बर बारी', 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी॥'* (इ०) निर्गुन खारा जल है। वह भक्तको नहीं भाता, यथा—*'निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥'*......*'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥'* इत्यादि, *'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।'*

वि० त्रि०—जगत्‌में जो कुछ सरसता है, नदी, तालाब, कूपादि जितने जलाशय हैं, उनके साक्षात् या परम्परासे बादल ही कारण हैं। ऐसा करनेमें मेघोंका कोई स्वार्थ नहीं है, पर जगत्‌का कल्याण मेघोंसे ही होता है। इस भाँति परहितचिन्तक विद्वान् सज्जनोंमें ही यह सामर्थ्य है कि उस गुणसिन्धुके दुराधर्ष गुणोंसे लोकोपयोगी अंशको पृथक् करके जगत्‌को प्रेमानन्दसे आप्लावित कर दें। जगत्‌में जो कुछ गुण या आनन्दका लेश है वह इन्हीं महात्माओंके साक्षात् या परम्पराकृत कृपाका फल है। ऐसा करनेमें इनका कोई स्वार्थ नहीं है, वे पूर्णकाम हैं, पर जड़ जीवोंका कल्याण इन्हींसे होता है। यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'*

नोट—३ *'चंदनतरु हरि संत समीरा।'* मलयगिरिपर एक चन्दनका प्रधान वृक्ष है। विषैले सर्प उसकी जड़ोंसे लिपटे रहते हैं। वहाँ पहुँचना मनुष्यकी गतिके बाहर है। पवनद्वारा उसकी सुगन्ध जहाँतक पहुँचती है वहाँतकके कड़वे-से-कड़वे वृक्ष भी चन्दनके समान सुगन्धयुक्त हो जाते हैं। वे भी चन्दन ही माने जाते हैं—**'कंकोलनिंबकुटजा अपि चन्दनाः स्युः'** इति भर्तृहरेः। वैसे ही श्रीरामजी चन्दन हैं। उनकी सुगन्ध सन्तोंके द्वारा सर्वत्र फैलती है। दृष्टान्त इतनेमें ही हैं। [पुनः, वे सबको चन्दनवत् माननीय कर देते हैं। नींबादिका आकार वही रहता है। पर लकड़ीमें जैसे चन्दनकी सुगन्ध आ जाती है वैसे ही प्राणियोंमें श्रीरामभक्तिरूपी सुगन्ध आ जाती है।]

वि० त्रि०—*'चंदनतरु......'* इति। सन्त हरिसुयशकी वर्षा करके जगत्‌को हरा-भरा कर देते हैं। प्रेमका बिरवा इन्हींकी कृपासे वर्धित होकर वृक्षरूपमें परिणत होता है, गुणग्रामके स्मरणसे अनुराग बढ़ता है, यथा—*'सुमिरि सुमिरि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।'* पर मेघ अपना गुण अथवा समुद्रका गुण किसीको दे नहीं सकते और संत ऐसा करते हैं। अतः मेघके दृष्टान्तसे पूरा काम नहीं चला, इसलिये दूसरा दृष्टान्त देना पड़ा। पवनकी गति सर्वत्र है। यह सामर्थ्य गन्धवाहकमें ही है कि चन्दनके गन्धको लेकर अन्य वृक्षोंके सारमें बसा दे। इसी भाँति यह शक्ति संतमें ही है कि हरिका भाव लेकर मनुष्योंके अन्तःकरणको सदाके लिये भगवद्भावसे भावित कर दें, अर्थात् फलरूपा भक्ति प्रदान कर सकें। यदि पापियोंके हृदयमें संतवाणी काम नहीं करती तो इसमें संतका कोई दोष नहीं, चन्दनकी वायु भी बाँसको सुगन्धित करनेमें असमर्थ है। ☞ यहाँ संत और हरिकी उपमा जड़ पदार्थोंसे देकर जनाया कि ये जड़की भाँति परोपकारका कार्य स्वार्थहीन तथा दुःख-सुखसे रहित होकर करते हैं।

पं०—चन्दनके समीप रहकर भी बिना पवन लगे वृक्ष चन्दन नहीं होते; ऐसे ही अवतारोंके दर्शन होते हुए भी बिना सत्सङ्गके उनके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता।

वै०—भाव कि पूर्व कहा कि बिना रघुनाथजीकी कृपाके भक्ति नहीं मिल सकती, उनकी कृपासे

मिलती है और अब बताते हैं कि राम-भक्तोंकी कृपासे वही भक्ति बहुत सहजमें मिल सकती है। श्रीरघुनाथजीका मिलना दुर्घट है और संत सर्वत्र सुलभ हैं और थोड़ी ही सेवासे कृपा करते हैं।—[*'बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी'* ४५ (५) देखो]

करु०—पूर्व जिसको सामान्य कहा उसीको अब विशेष कहते हैं। वह व्यञ्जना है। मेघोंहीसे जगत्‌का प्रतिपालन होता है पर मेघ समुद्रहीसे जल लेते हैं वैसे ही साधु श्रीरामचन्द्रके गुण-स्वभाव लेकर सब जीवोंको उपदेश कर कल्याण करते हैं, जैसे समीर चन्दनकी सुगन्ध लेकर अनेक तरुको चन्दन कर देता है वैसे ही संत अनेक जीवोंको हरिकी सारूप्यमुक्ति प्राप्त करा देते हैं।

नं० प०—श्रीरामजी समुद्र हैं अर्थात् जलसे पूर्ण हैं, पर समुद्र स्वयं उस जलसे किसीका उपकार नहीं करते और उसी समुद्रसे लेकर मेघ सब जीवोंका हित करते हैं। वैसे श्रीरामजी रामनामके ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं परंतु श्रीरामनामके ऐश्वर्यको संत प्रचार करके संसारका हित करते हैं। चन्दनका वृक्ष सुगन्धसे पूर्ण है पर वह किसी वृक्षको अपने सदृश नहीं करता, पवन ही उस चन्दनकी सुगन्ध लेकर अन्य वृक्षोंको चन्दन कर देता है। इसी तरह भगवान् भक्तिसे पूर्ण हैं, संत पवनरूप हैं। ये भगवान्‌की भक्ति दूसरे मनुष्योंमें प्रवेश कराके उस मनुष्यको भगवान्‌के सदृश कर देते हैं यथा—*'बालमीक भे ब्रह्म समाना।'*

सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ १८॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहिं सुलभ बिहंगा॥ १९॥

अर्थ—सब-(साधनों-) का फल सुन्दर रामभक्ति है। सो बिना संतके उसे किसीने नहीं पाया॥ १८॥ ऐसा विचारकर जो कोई भी सत्सङ्ग करे, हे गरुड़! उसे रामभक्ति सुलभ है॥ १९॥

नोट—१ *'सब कर फल ......।'* यहाँ अर्थमें 'साधन' शब्दका अध्याहार कर लेना होगा। पूर्व सबको गिना आये हैं, यथा—*'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।'* ९५ (५-६) तथा, *'जप तप नियम जोग निज धर्मा।......सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* ४९ (१—४) देखिये। पुनश्च यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संयम दम जप तप मख नाना॥ भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥'* (१२६। ४—७) अतः यहाँ *'सब'* से वे सब जना दिये। हरिभक्तिको फल कहकर साधनोंको वृक्ष जनाया। वृक्षमें फल लगते हैं। [भाव कि कर्म-ज्ञानादि अङ्कुर बढ़े, पर फल हरिभक्ति ही है। *'सुहाई'* क्योंकि प्रभुकी प्रिया है और सुखद है। (रा० प्र०)] सुहाई अर्थात् निष्काम। कामनाका रहना भक्तिकी शोभा नहीं है। देखिये श्रीनृसिंहभगवान्‌के कहनेपर कि वर माँगो श्रीप्रह्लादजीने क्या कहा है—**'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥'**(भा० ७। १०। ४) **'आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।......यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥'**(७) अर्थात् जो सेवक आपसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखता है, वह तो सेवक नहीं कोरा व्यापारी है। स्वामीसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाला सेवक सेवक नहीं है। यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अङ्कुर उत्पन्न न हो।

२—पूर्व कहा कि *'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई'* और यहाँ कहते हैं कि *'सो बिनु संत न काहू पाई।'* इनमें विरोध नहीं है। रामकृपा जब होती है तब संत मिलते हैं, यह उनकी कृपाका चिह्न है, और संतके मिलनेपर उनसे भक्तिकी प्राप्ति होती है। यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (६९। ७) *'जब द्रवइ दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए॥'* (वि० १३६) *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'* (५। ७। ४) [सुमति संतके हिस्सेकी वस्तु है। सुमतिमें रमण करनेवाले संत ही होते हैं, इसीलिये *'सुमति'* को संत-तिय कहा है, यथा—*'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।'* और सुमतिके बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये संत ही भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। (वि० त्रि०)]

३—*'अस बिचारि'*—जैसा कि ऊपर *'राम तें अधिक राम कर दासा'* से *'सो बिनु संत न काहू पाई'* तक ५ चरणोंमें कहा है। बिना संतके भक्ति मिल नहीं सकती अतः सत्सङ्ग करना निश्चय किया। ४५ (५) देखिये।

वि० त्रि०—*'बिहंगा'* इति। यहाँ भुशुण्डिजी अपने सब श्रोताओंका ध्यान आकर्षित करते हैं, इसलिये सम्बोधनमें एकवचन *'बिहंगू'* का प्रयोग न करके बहुवचन *'बिहंगा'* शब्दका प्रयोग करते हैं। क्योंकि विहङ्गयोनिमें कोई साधन नहीं हो सकता, पर सत्सङ्ग तो पक्षी भी कर सकते हैं। यथा—*'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥'* (५७। ७) *'साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी॥'* अथवा यह विहंगमार्गी ज्ञानियोंका सम्बोधन है, यथा—*'सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥'*

'राम भगति तेहि सुलभ'—भाव कि रामभक्ति अति दुर्लभ है। यथा—*'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी॥'* (५४। १) से *'तब ते सो दुर्लभ सुर राया। रामभगतिरत गत मद माया॥'* तक। सत्सङ्गसे ऐसी दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है।

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं* भगति मधुरता जाहि॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥ १२०॥

अर्थ—'ब्रह्म' क्षीरसागर, ज्ञान मन्दराचल और संत देवता हैं, जो उस समुद्रको मथकर कथारूपी अमृत निकाल लेते हैं जिसमें भक्ति ही मिठास है। जो वैराग्यरूपी ढाल (से अपनी रक्षा करते हुए) और ज्ञानरूपी तलवारसे मद-लोभ-मोहरूपी शत्रुओंको मारकर जय प्राप्त करती है, वह हरिभक्ति ही है।† हे खगेश! विचारकर देखिये॥ १२०॥

नोट—१ ब्रह्मके अनेक अर्थोंमेंसे यहाँ 'वेद' अर्थ अधिक सङ्गत है। यथा—*'बेद पुरान उदधि घन साधू।'* ऊपर *'रामसिंधु घन सज्जन धीरा'* में श्रीरामको सिंधुसे रूपक दिया है, अतः ब्रह्मसे 'राम' स्वरूपका भी अर्थ लोग करते हैं। २—क्षीरसमुद्रको देवताओंने अमृतके लिये मथा था जिसे पीकर वे अमर और बलवान् होकर राक्षस और दैत्य दनुजादि शत्रुओंसे जीते। वैसे ही वेदसमुद्रको संतलोग अपने ज्ञानद्वारा मथकर उनमेंसे मधुर भक्तिमय रामकथारूपी अमृत निकालकर मदमोह-लोभादि शत्रुओंपर जय प्राप्त करते हैं। ३ *'बिरति चर्म'* ''''''' धर्मरथमें भी विरतिको चर्म कहा है—लं० ७९ (७) में देखो।

वै०—१ भाव यह कि सज्जन अपने बलसे कामादिकोंसे नहीं जीत सकते हैं। इसीसे कथा-अमृतहेतु कामादि शत्रुओंको मिलाये रहते हैं। कथा श्रवण करनेमें जब रामयशरूप अमृत प्राप्त हुआ तब उसे रामकृपासे पानकर प्रेमानन्द स्वाद पाकर भक्तजन बलिष्ठ हुए तब वैराग्य-ढाल और ज्ञान-खड्गसे मदादि शत्रुओंको मारकर स्वाभाविक ही जय पाकर अकण्टक होते हैं। तात्पर्य कि हरियश-श्रवण-कीर्तन भक्ति बल पाकर संत मोहादि शत्रुओंको सहज ही जीत लेते हैं।

२—अगाध और अपारतादि धर्म लेकर ब्रह्मको पयोनिधि कहा, गुरुता धर्म लेकर ज्ञानको मन्दरपर्वत कहा कि जो तलतक पहुँच जाय, अपारसे मथ काढ़ना धर्म लिया। पयोनिधि वासुकीरूपी रज्जुद्वारा मथा गया था, यहाँ विशेषता यह है कि बिना रज्जुके ही मथकर काढ़ लिया। संतको सुर कहा। *'सुर'* शब्दसे ही आर्थिक उनके विरोधी असुर भी आ गये।—[रा० शं०—यहाँ विशेषता यह है कि केवल देवता ही मथनेवाले हैं] *'काढ़हिं'* पाठका *'संत'* के साथ अन्वय होगा।

---

* काढ़िए—(का०)। काढइ-(गौड़जी)।

† १ पं०—'हरिभक्तिरूपी विजयकी बधाई पायी', इस बातको विचारकर देख कि भगवद्भक्ति सबोंका सार है। २ वीर—यह परंपरितरूपक है। अभेदत्वसे पूर्ण है।

'बिरति चर्म……' इति। मद बुद्धि आदिको मतवाला करता है, लोभ आशाडोरसे बन्दरकी तरह नचाता है। मोह मायिकदलका नायक है—इन रिपुओंको जिस सहायसे मारकर जय पाइये वही हरिभक्ति है।

वि० त्रि०—(क) जिस तरह समुद्रका मंथन मन्दराचलसे ही सम्भव था, उसी भाँति वेद-समुद्रका मन्थन ज्ञानसे ही हो सकता है। जिन्होंने अपनी असंस्कृत बुद्धिसे ही मन्थ किया, उन्हें तो वेद गँवारोंका गीत ही मालूम होगा। वेदसमुद्रके मन्थनमें केवल देवस्थानीय संत ही समर्थ हैं, असुरस्थानीय खलोंका इसमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-मन्दरको घुमानेकी शक्ति केवल संतोंमें है, खल तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। (ख) *'कथा सुधा'* इति। भाव कि रामकथा वेदोंका सार है। जैसे ब्रह्मका रामरूपमें अवतार हुआ, वैसे ही ब्रह्मयश वेदका रामायणरूपमें अवतार हुआ, यथा—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* (ग) *'भगति मधुरता'*—रामकथामें रामस्वभाव वर्णित होता है और रामस्वभावके परिज्ञानमें ही मिठास है, उसी मिठासका नाम भक्ति है। यथा—*'उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥', 'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'*

नोट—*'देखु बिचारि'*—भाव कि देखिये भक्तिका कैसा बड़ा प्रभाव और बल है, यह कैसी अलभ्य वस्तु है। ११४ (१६) में जो कहा था कि *'रामभगति महिमा अति भारी'* वही बात यहाँ भी दृढ़ कर रहे हैं। वहाँपर कहा था कि *'मुनि दुर्लभ बर पाएउँ देखहु भजन प्रताप।'* (११४) वैसे ही यहाँ प्रभुता दिखाते हैं।—*'देखु……।' 'देखु बिचारि'* का भाव कि बिना विचारे न देख पड़ेगा, यह बड़ी सूक्ष्म बात है। ज्ञान-दीपक और भक्ति-चिन्तामणिका मिलान—

ज्ञानदीपक	भक्तिचिन्तामणि
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा	१ *परम प्रकासरूप दिन राती*
यहाँ विज्ञान दीपक, ज्ञान घृत, तुरीया तूलकी बत्तीकी जरूरत	२ *नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती*
प्रबल अबिद्या कर परिवारा (मिटै)	३ *प्रबल अबिद्यातम मिटि जाई (कारण)*
मोह आदि तम मिटइ अपारा	४ *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा', 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं'*
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ	५ *हारहिं सकल सलभ समुदाई*
रिद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई॥	६ *लोभ बात नहिं*
कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचलबात बुझावहिं दीपा॥	*ताहि बुझावा*

वि० त्रि०—*'बिरति चर्म असि ज्ञान……'* इति। (क) शत्रुवधकी सिद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता पड़ती है, पहले अपनी रक्षाकी और दूसरे शत्रुपर प्रहार करनेकी। जबतक शत्रुके प्रहारको रोकनेका साधन अपने पास न हो, युद्धकी चर्चा चलाना ही व्यर्थ है। और वधका असाधारण कारण शस्त्र है। संक्षेपमें ढाल-तलवारसे दोनों काम निकलते हैं। यहाँ वैराग्य ढाल है, ज्ञान तलवार है। विषयमें रति होनेसे ही कामक्रोधादिका बल चलता है और वे कल्याणका नाश करनेमें समर्थ होते हैं। यदि विषयमें रति न हो तो कामादिका कुछ बल नहीं चल सकता। अतः वैराग्यको ढाल कहा। सबमें ब्रह्मको समान देखनेसे शत्रु-मित्र-बुद्धि ही नहीं रह जाती, अतः साध्याभावसे साधनरूप कामादि मर जाते हैं। इसलिये ज्ञानको तलवार कहा। (ख) *'मद लोभ मोह रिपु'* रिपु कहनेसे काम, क्रोध और मात्सर्यको भी ग्रहण किया। अकारण अपकार करनेसे, कल्याण-मार्गमें बाधक होनेसे ये सब शत्रु माने गये हैं। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ८) से *'मच्छर काहि कलंक न लावा॥'* (७१। ३) तक (ग) *'मारि'*—बिना इनको मारे कल्याणपथमें सिद्धि नहीं मिल सकती; अतः इनके वधके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। कथामृतका पान करनेसे ऐसा बल (परम वैराग्य) बढ़ता है कि मनुष्य अकेले ही सब शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ होता है।

वि० त्रि०—*'जय पाइअ……'* इति। (क) शरीर दो राजाओंका देश है, अपने अधिकारके लिये दोनोंमें नित्य लड़ाई रहती है। एक ओर मोह राजा है, कामादि जिसके सहायक हैं। दूसरी ओर विवेक राजा है, वैराग्यादि इसके सहायक हैं। यह लड़ाई अनादि कालसे चली आती है। कभी एक बीस पड़ता है

तो कभी दूसरा। इसी द्वन्द्वमें पड़कर यहाँकी प्रजा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि अति पीड़ित हो रहे हैं। जब कथामृतपानसे विवेकादिका बल बढ़ता है, तब मोहादि मार डाले जाते हैं। विवेक राजाकी जीत होती है, अकण्टक राज्य स्थापित होता है और फिर राजा साहब रामचरणाश्रित होकर आनन्दसे राज्य करते हैं। यथा—*'जीति मोह महिपालदल सहित बिबेक भुआल। करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकाल॥……'* (ख) *'सो हरि भगति'*—भाव कि कामादिके मारे जानेपर जो जीत मिली, जिस उत्कर्षकी प्राप्ति हुई, वही 'भक्ति' है। इतनी बड़ी लड़ाईके बाद फल यह हुआ कि संसारकी ओरसे मन हटकर श्रीराममें लगा, विवेकका साम्राज्य स्थिर हो गया, वैराग्य मन्त्री हुआ, स्नेह वन साम्राज्य हुआ, यम-नियम भट हुए, चित्त राजधानी हुआ। शान्ति सुमति रानियाँ हुईं। यथा—*'सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सोहावन पावन देसू॥ भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदरि रानी॥ सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥'* अब सांसारिक राज्य आदिसे सम्बन्ध नहीं रह गया। (ग) *'खगेस'* का भाव कि आपकी अव्याहत गति है, सभी साम्राज्य आपके देखे हुए हैं, पर कोई भी इस भक्ति-साम्राज्यके अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता। (घ) *'देखु बिचारि'*—भाव कि मेरे कहनेपर ही न रह जाइये। बिना संसारसे मन हटे और रामपदमें लगे सुख नहीं, और यही भक्ति है।

नोट—मिलान कीजिये—'**रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः। असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्॥**'(भा० ५। १३। २०) श्रीजड़भरतजी रहूगण महाराजसे कह रहे हैं कि तुम भी इस संसार-वनमें भटक रहे हो, अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य अर्थात् राज्य आदिको छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ, सब प्रकारका सङ्ग (आसक्ति) छोड़कर भगवत्-सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो।

☞*'ज्ञानहि भक्तिहि अन्तर केता'* का उत्तर यहाँ समाप्त हुआ।

पंचम प्रसङ्ग—'सप्त प्रश्न और उनके उत्तर'

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ॥ १॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी॥ २॥
प्रथमहि कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा॥ ३॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहि कहहु बिचारी॥ ४॥

अर्थ—(पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर) पक्षिराज गरुड़जी फिर प्रेमपूर्वक बोले—हे कृपालु! यदि मुझपर आपका प्रेम है॥ १॥ तो, हे नाथ! मुझे अपना खास सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नोंका उत्तर बखानकर कहिये॥ २॥ हे नाथ! हे धीरबुद्धि! पहले तो यह कहिये कि सबसे दुर्लभ (कठिनतासे प्राप्त होनेवाला) शरीर कौन-सा है?॥ ३॥ और यह भी विचारकर संक्षेपसे ही कहिये कि सबसे बड़ा दुःख कौन है और कौन सुख सबसे भारी बड़ा है॥ ४॥

नोट—१ (क) ज्ञान-भक्ति-भेद-प्रकरणका उपक्रम *'एक बात प्रभु पूछौं तोही।'* (११५। ८) है और उपसंहार *'देखु खगेस बिचारि।'* (१२०)*'पुनि सप्रेम बोलेउ'* है। उत्तरका उपक्रम *'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।'* (११५। १३) है और उपसंहार *'जय पाइअ सो हरि भगति……'* है। (ख) *'पुनि', 'जौं कृपाल', 'निज सेवक जानी'* और *'मतिधीर'* के भाव पूर्व आ चुके हैं। इसी तरह पार्वतीजीने प्रश्न किया है। यथा—*'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।'* (१। १०८। १-२) *'जौं कृपाल'* और *'निज सेवक जानी'* में *'जानिय सत्य मोहि निज दासी'* का भाव भी आ जाता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीका मत है कि यहाँ गिरिजाजीके अन्तिम प्रश्न, *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥'* के उत्तरका सूत्रपात करते हैं। पर औरोंका ऐसा मत नहीं है।

वि० त्रि०—१ (क) *'खगराऊ'* का भाव कि भुशुण्डिजीने खगेशको विचारपूर्वक देखनेको कहा था। यथा—*'जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि।'* गरुड़के विचार करनेपर सात शङ्काएँ और खड़ी हो गयीं। ये खगराऊ हैं, युद्ध तथा जयकी क्रियासे भलीभाँति परिचित हैं, युद्धमें सिद्धि निश्चित नहीं रहती, तनिक-सा छिद्र होनेसे महान् अनर्थ हो जाता है, अतः अत्युत्तम साधन अभ्रान्त जानकारीके लिये प्रश्न करते हैं। (ख) *'सप्रेम बोलेउ'*—पहले मृदु वाणी बोले थे; यथा—*'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी।'* अब सप्रेम बोले। इससे जनाया कि भुशुण्डिजीके अमृतमय उपदेशसे प्रेम बढ़ता ही जाता है। (ग) *'कृपाल'*—भाव कि गुरुकृपा बिना कुछ नहीं हो सकता, सो कृपाल गुरु भाग्यसे मिल गये हैं। अतः प्रश्न करते समय *'कृपाल'* शब्दद्वारा ही सम्बोधन करते हैं। (घ) *'भाऊ'* से यहाँ कृपा-भाव अभिप्रेत है।

२ *'नाथ मोहि निज सेवक……'* इति। (क) देखिये भुशुण्डिजी और गरुड़जी परस्पर एक-दूसरेको *'नाथ'* सम्बोधन कर रहे हैं। यथा—*'नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।'*, तथा यहाँ *'नाथ……।'* इससे सूचित हुआ कि दोनोंको परस्पर विनयसे वर्णनातीत सुखका अनुभव होता है। यथा—*'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥'* (भरद्वाज-प्रभु-मिलन)

नोट—*'सप्त प्रस्न मम……'* इति। कुछ तिलककारोंने यहाँ ८ प्रश्न गिनकर *'अष्ट प्रश्न'* पाठ रखा है। पर प्राचीन पोथियोंमें *'सप्त'* ही पाठ मिलता है। वस्तुतः प्रश्नकी रीतिसे सात ही प्रश्न होते हैं। १ *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'*, २ *'बड़ दुख कवन'*, ३ *'कवन सुख भारी'*, ४ *'संत-असंत-मर्म तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज स्वभाव बखानहु॥'*-यहाँ *'मर्म'* शब्द इसको एक ही प्रश्न कायम करता है, इसका उत्तर भी मिलानके ढंगपर एक साथ है। ५ *'कवन पुन्य बिशाल (है सो) कहहु'*, ६ *'कहहु कवन अघ परमकराल है'*, ७ *'मानसरोग कहहु।'* रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'कोई-कोई संत-असंत-स्वभावको एक प्रश्न मानते हैं जिसमें सातकी गिनती ठीक हो जाय। पर सप्त प्रश्नमें मानसरोगवाला प्रश्न न गिनना चाहिये वह सप्तसे पृथक् है, यथा—*'मानसरोग कहहु समुझाई।'*

वि० त्रि०—३ *'मम सप्त प्रस्न'* का भाव कि १ भोगायतन, २ अनुकूल वेदनीय भोग, ३ प्रतिकूल वेदनीय भोग, ४ भोक्ता, ५ अनुकूल भोगका कारण, ६ प्रतिकूल भोगका कारण और ७ भोक्ताकी अस्वस्थताके कारणविषयक प्रश्न हैं, इन्हीं सात प्रश्नोंमें साध्य, साधन और साधकविषयक सब बातें आ गयीं।

वि० त्रि०—४ (क) *'मति धीरा'*—जो प्रभुके प्रभावको जाने वह मतिधीर है, यथा—*'प्रभु प्रभाव जानत मति धीरा।'* और आपसे बढ़कर इसका जानकार कौन होगा? (ख) *'प्रथमहि कहहु'*—भाव कि पहले भोगायतन (शरीर) का ही वर्णन होना चाहिये। देहाध्याससे ही संसार है। अतः जिस देहमें संसार-दुःखसे निवृत्तिका साधन जितना ही अधिक हो उतना ही वह उत्तम है, सो पहले उसीको कहिये।

नोट—३ *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'* इस प्रश्नका हेतु यह है कि ये अगणित शरीर धारण कर चुके हैं और सबका इनको बोध शिवकृपासे बना रहा। अतः ये ठीक कह सकेंगे, क्योंकि स्वयं अनुभव कर चुके हैं—*'कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥'*, *'त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ।'*, *'सुधि मोहिं नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी॥'* (९६। १०) दुःख और सुख भी सब जानते हैं जैसा उनके *'देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं॥'* (९६। ९) से स्पष्ट है, अतः यह प्रश्न हुआ।

वि० त्रि०—५ *'बड़ दुख'*, *'सुख भारी'*—भाव कि भगवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं कि जो मनुष्य उन्हें नहीं भजता और दिन-पर-दिन विषयरत होकर मन्द होता चला जाता है, वह परलोकमें दुःख उठाता है; यथा—*'सो परत्र दुख पावइ……।'* सुखको भी भगवान्‌ने कहा है—*'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।'* पर यह नहीं बताया कि बड़ा दुःख कौन है और भारी सुख कौन है, न किसीने उनसे पूछा ही। (ख) *'बिचारी'* अर्थात् अनेक जन्मोंके अनुभूत सुख-दुःखोंको मिलान करके मनमें ठीक करके। (ग) *'संछेपहि'*—क्योंकि दुःख-सुख सबके अनुभूत पदार्थ हैं अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं।

संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु॥ ५॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला॥ ६॥
मानसरोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई॥ ७॥

अर्थ—आप संत और असंतका मर्म जानते हैं। उनका सहज (बनावटी नहीं वरन् जैसा जन्मके साथ उत्पन्न होता है) स्वभाव बखानकर कहिये॥ ५॥ (फिर) कहिये कि कौन पुण्य श्रुतिमें बहुत बड़ा माना गया है और कौन पाप परम विकराल है॥ ६॥ मानसरोग क्या है? इन्हें समझाकर कहिये। आप सब कुछ जाननेवाले हैं और मुझपर आपकी तथा भगवान्‌की आपपर विशेष कृपा है॥ ७॥

वि० त्रि०—१ *'संत असंत मरम······'* इति। (क) भगवान्‌ने नारदजीसे संतोंके गुण कहे और भरतजीसे संत और असंत दोनोंके गुण कहे। दोनोंके गुणोंका पारावार नहीं है, यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* अतः इनका मर्म जाननेसे काम चलेगा, क्योंकि साधारण जीव अपेक्षाकृत संत भी हैं, असंत भी हैं, मर्म जान लेनेसे दोनोंके गुणोंकी पहचान हो जावेगी। कल्याणार्थीको उनके त्याग और ग्रहणमें बड़ा सुभीता होगा। (ख) *'तुम्ह जानहु'*—भाव कि तुम असंत भी रह चुके हो, यथा—*'मैं खल मल संकुल······।'* (ग) *'बखानहु'*—भाव कि इन्हींके बखानसे सम्पूर्ण वेद-शास्त्रके सारका बखान है, जितने उपादेय गुण हैं वे सब संतमें हैं और जितने हेय गुण हैं वे सब असंतमें हैं। अतः इनके लिये बखान करनेकी प्रार्थना है।

नोट—१ (क) *'मरम तुम्ह जानहु।'* कैसे जाना कि ये जानते हैं? इससे कि विप्र, गुरुके विषयमें कहा है कि *'परम साधु परमारथबिंदक'* और शिवजीने उपदेश दिया था कि *'जानेसु संत अनंत समाना'* अतएव जानना सिद्ध है। दूसरे वरदान है कि सब कुछ जानोगे। यथा—*'जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥'* (८५। ८), *'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥'* (११४। ४) (ख)—*'सहज स्वभाव'* वह है जो सब कालमें सदा स्वाभाविक ही बना रहता है।

२ (क) *'श्रुति बिदित'* पूछा क्योंकि श्रीभुशुण्डिजीने श्रुतिका नाम बारंबार लिया है—*'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई' 'बेद पुरान संतमत भाषी'* इत्यादि। (प्र० सं०)। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें श्रुतिविदित पुण्योपार्जनकी आवश्यकता बतायी है। यथा—*'जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ सो तृन हरित चरै जब गाई।', 'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥'* दोनों मार्गोंमें भक्तिकी सुलभता दिखलायी, फिर भक्तिकी प्राप्तिमें सुलभता सत्संगद्वारा कही, पर संतका सङ्ग बिना पुण्यपुञ्जके होता नहीं, अतः पुण्यपुञ्जोपार्जनके लिये श्रुतिविदित विशाल पुण्य पूछते हैं। (वि० त्रि०) (ख) *'अघ परम कराला'* इति। पाप करनेवालेको धर्मबुद्धि ही नहीं होती, वह पुण्य करेगा ही नहीं। यथा—*'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं॥—हमरे धर्मबुद्धि कस काऊ।'* अतः उसका मन भजनमें नहीं लगता। यथा—*'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'* अतः परम कराल पापका जान लेना आवश्यक समझकर उसे पूछा। परम कराल वह है जिससे कोई बच न सके। (वि० त्रि०)

३ *'तुम सर्वज्ञ कृपा'* इति। प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देंगे यह समझकर प्रश्न किया क्योंकि इनपर (श्रीरघुनाथजीकी) बड़ी कृपा है और ये वरद्वारा सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं।

वि० त्रि०—*'मानसरोग······'* इति। (क) भुशुण्डिजीने कहा था कि *'ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥'* (१२०। ८) अतः यह जान लेना आवश्यक हुआ; क्योंकि रोग तो एक-दो कभी-कभी किसीको होते हैं, सब रोग सदा सबको रहें, यह अद्भुत बात है। (ख) *'कहहु समुझाई'*—भाव कि मलका कुपित होना ही सब रोगोंका कारण है। शरीरमें जो वात, पित्त, कफ हैं ये ही विकृत होकर अनेक विकार उत्पन्न कर देते हैं। वात-पित्तका प्रकोप कुपथ्यसे हो सकता है। रोगोंके लिये चिकित्सा-शास्त्र बना है। वैद्य दवा देते हैं, रोग उपशमित होता है। इत्यादि। ये सब बातें मनमें

कैसे होती हैं, यह समझमें नहीं आता, अतः इन्हें समझाकर कहिये। (ग) *'कृपा अधिकाई'* इति। भाव कि संसारमें कृपाके लिये कारण होता है। यथा—*'अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन तन बचन भगत तैं मोरा॥'* कारणरहित कृपा दोहीको होती है—भगवान्‌को और उनके सेवकको। यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* इसीलिये *'कृपा अधिकाई'* कहा।

पं०—रोगका स्वरूप समझा होता है तो अपनेमें उनको लखकर उपाय करना सुगम होता है और मानसरोग तो सूक्ष्म रोग हैं, इसलिये बिना विस्तारसे समझाये इनका स्वरूप समझमें न आयेगा। यदि कहें कि हम क्या जानें तो इसीपर कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं और बड़े कृपालु हैं, कृपा करके कहिये।

(सप्त प्रश्नोंके उत्तर)

तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संक्षेप कहौं यह नीती॥ ८॥
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही*॥ ९॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी†॥ १०॥

शब्दार्थ—नीति-लोककल्याणके लिये निश्चित ठहराया हुआ आचार-व्यवहार। **स्वर्ग**—लोकोत्तर पुण्य भोगनेके लिये जो लोक हैं उन्हें स्वर्ग कहते हैं। नरकोंके ऊपर सात पाताल है, आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर ध्रुवतक ग्रह-नक्षत्रोंसे युक्त अन्तरिक्ष लोक है। इसके ऊपर स्वर्ग है। इसके पाँच भेद हैं—महिन्द्रलोक, प्राजापत्य (महर्लोक), जन, तप और सत्य लोक। पिछले तीन ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं। यहाँतक सम्प्रज्ञात-समाधिवालोंकी गति है। अपबर्ग—असम्प्रज्ञात-समाधिवाले (अर्थात् विदेहलय और प्रकृतिलय) मोक्षपदमें स्थित हैं। अपबर्ग-मोक्ष।

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजी बोले—हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेमसे सुनो, मैं यह नीति संक्षेपसे बड़े प्रेमसे कहता हूँ॥ ८॥ मनुष्य-शरीरके समान कोई शरीर नहीं है। चर-अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं॥ ९॥ यह शरीर नरक, स्वर्ग तथा मोक्षकी सीढ़ी है और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कल्याणका देनेवाला है॥ १०॥

वि० त्रि०—१ *'तात सुनहु सादर—'* इति। (क) प्रश्न हुआ था *'जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ।'* ऐसे कहकर। अतः *'तात'* सम्बोधन करके शिष्यके प्रति आदर और प्रीति दिखलाते हुए उत्तर दिया जा रहा है। (ख) *'सादर अति प्रीती'* इति। अति प्रीतिसे सुननेसे ही गम्भीर विषयके निरूपणका धारण हो सकता है और आदरके साथ सुननेसे ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है। यथा—*'सुनहु तात मन मति चित लाई,'* *'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान।'* जहाँ कार्यप्रणाली कही जाती है, वहाँ सादर सुननेके लिये अनुरोध किया जाता है। सादर सुननेका अभिप्राय उस शिक्षाको कार्यमें परिणत करनेका है। यथा—*'तात बचन मम सुनु अति आदर॥'* (६। ९। ७) और जहाँ केवल समझानेके लिये विषयनिरूपण किया जाता है, वहाँ सावधान होकर सुननेको कहते हैं। यथा—*'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (ग) *'यह नीती'*—भाव कि ये प्रश्न कार्यप्रणाली जाननेके लिये हैं अतः इनके उत्तरको *'नीति'* कहा। महात्मा लोग नीतिसे कभी विचलित नहीं होते; यथा—*'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।'* अतः कार्यसिद्धिके लिये नीति स्थिर करनेमें ही पंडिताई है, इसलिये रामभक्तिको हृदयमें छा लेनेकी नीतिकी ओर इङ्गित करते हैं। (घ) *'संक्षेप कहौं'*—भाव कि यह विस्तारसे कहने योग्य है पर मैं तुम्हारे कथनानुसार संक्षेपमें कहता हूँ। इसे आदर और प्रीतिके साथ सुननेसे ही यथावत् धारण कर सकोगे।

पं०—*'यह नीती'* का भाव कि सादर प्रेमपूर्वक सुनना यह श्रोताकी नीति है और वक्ताकी यह नीति है कि अल्प अक्षरोंमें सब सार कह दे।

रा० प्र०—आदरसे कहना और प्रीतिसे सुनना तथा संक्षेपसे कहना यह नीति है जिससे बुद्धिमें ज्ञान और धारणा प्राप्त हो।

* जेही। † सुष-(रा० गु० द्वि०)।

नोट—*'नर तन सम नहिं……'*—४४ (४—७) देखिये। *'जीव चराचर जाँचत'*—चरकी याचना तो कहते बनती है। स्थावरकी याचना कैसे? हमारे शास्त्र बताते हैं कि स्थावर भी अन्त:संज्ञ होते हैं, भीतरसे उन्हें ज्ञान रहता है, पर वाणीकी कृपा नहीं होनेसे प्रकाशित नहीं कर सकते। यथा—*'सीता कर बिलाप सुनि भारी। भए चराचर जीव दुखारी॥'*

वि० टी०—श्रीमत् शंकराचार्यजीने भी इसीकी पुष्टिमें यों कहा है—'**दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय:॥**' अर्थात् जन्म, मोक्षकी इच्छा और महात्माओंका सत्संग ये तीनों दुर्लभ हैं। जो ईश्वरकी कृपा हो तो ही ये मिलते हैं। भाव यह है कि यद्यपि यहाँ तीन बातें दुर्लभ कही गयी हैं तथापि उन तीनोंका आदिकारण मनुष्य-शरीर ही है।

रा० शं०—*'नहिं कवनिउ देही'* अर्थात् यह सबसे श्रेष्ठ है, यह कहकर फिर श्रेष्ठताका प्रमाण देते हैं कि *'चराचर जाचत तेही।'* और फिर याचनाका कारण कहते हैं कि यह *'नरक'* आदिकी सीढ़ी है।

पं०—पापसे नरक, पुण्यसे स्वर्ग और भजनसे मुक्ति होती है। ज्ञानादि भी इसीमें प्राप्त होते हैं।

रा० प्र०—*'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'* ये तीनों इसीमें सधते हैं अन्य योनियोंमें केवल उदरका यत्न ही बनता है। अमर (देव) तनसे मोक्षादि असम्भव है।

करु०—*'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी……।'* मनुष्य-तनमें ही ज्ञानादि दृढ़ हो सकते हैं देवता-तनमें नहीं, इसका कारण यह है कि देवतनमें देवता विषयासक्त रहते हैं, यथा—*'इन्द्रियन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥'* निसेनीका भाव कि कर्मक्षेत्र नरतन ही है। जब देवतनका यह हाल है तब और किसीका कहना ही क्या? (दिव्य तनका यह हाल है तब अदिव्यकी बात ही क्या? नर-शरीर छोड़ अन्य सब शरीर भोग-शरीर-मात्र हैं)।

वि० त्रि०—(क) *'निसेनी'* इति। भाव कि जैसे सीढ़ी लगाकर लोग ऊँचे चढ़ जाते हैं और नीचे भी उतर जाते हैं, वैसे ही नरदेहसे चाहे नरकमें उतर जाय, चाहे स्वर्गपर चढ़ जाय और चाहे मोक्षको प्राप्त हो। इसके लिये प्रारब्ध नहीं है, प्रारब्ध सांसारिक सुख-दु:खोंके लिये है। सीढ़ी पाकर भी यदि कोई इच्छापूर्वक नरकमें उतरना चाहे तो शास्त्र और गुरु उसको मना तो करते हैं पर उसके साथ बलात् नहीं कर सकते। मरनेपर स्वर्ग, नरक वा मोक्ष मिलता है। (ख) *'ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी'*—जीते-जी ज्ञानादिको देनेवाला है। ज्ञानसे आत्मसुख मिलता है, वैराग्यमें अभय सुख है और भक्तिसे परमात्मसुख प्राप्त होता है। (त्रिपाठीजी *'सुभ'* को *'भगति'* का विशेषण मानते हैं)।

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर॥ ११॥
काचु किरिच बदले ते* लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं॥ १२॥

शब्दार्थ—**किरिच**=टुकड़ा।

अर्थ—वह (मनुष्य) शरीर धारण करके जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते किंतु विषयोंमें अनुरक्त हो जाते हैं अर्थात् विषयभोगमें लग जाते हैं, उसमें प्रेम करने लगते हैं, वे मन्द ही नहीं वरन् अत्यन्त मन्द (नीच) वा मन्दोंमें भी मन्दतर है॥ ११॥ (नरशरीरसे भजन न कर विषय-भोगमें लिप्त होना कैसा है सो कहते हैं कि) वे पारसमणिको हाथसे फेंक देते हैं और उसके बदलेमें वे काँचका टुकड़ा (उठा) लेते हैं॥ १२॥

नोट—१ *'मंद मंदतर।'* नरशरीर पाकर जो भजन नहीं करते वे मन्द हैं और जो भजन न करके उसके बदले विषयरत होते हैं वे मन्दतर (महामन्द) हैं। अर्थात् वे मन्द ही थे और ये उन मन्दोंमें भी अत्यन्त मन्द हैं। प्र० स्वामीजी अर्थ करते हैं कि—'वे मन्दबुद्धि *'पशु बिनु पूँछ बिषाण'* तो हैं ही, पर दिन-प्रतिदिन *'मंदतर होहिं'* 'अधिकाधिक मद जड़, मूढ़ होते जाते हैं और तिर्यक् योनि, स्थावर पाषाणादि बनते हैं।'

वि० त्रि०—अर्थ करते हैं कि 'उस शरीरको धारण करके जो मनुष्य विषयरत होकर मन्द होते

* जिमि—(का०)।

जाते हैं, हरिको नहीं भजते वे।......' *'मंद मंदतर'* का भाव कि वह तो सुखप्राप्तिकी इच्छासे सुखाभासके पीछे महान् कष्ट झेलता हुआ और भी घोर विपत्तिमें उलझता हुआ चला जाता है। विषय-सेवनसे उसकी बुद्धि और भी दिन-दिन मलिन होती चली जाती है, उसका लौटना असम्भव होता चला जाता है। अन्तमें उतरते-उतरते वह कहाँतक जायगा इसका ठिकाना नहीं।

२—*'काचु किरिच—।'* मन्द-मन्दतर कहकर अब मन्दतरत्वको दृष्टान्त देकर दिखाते हैं। मंद=निर्बुद्धि अज्ञान, कुबुद्धि। भजन और पारसमणि, विषय और *'काचु किरिच'* परस्पर उपमेय-उपमान हैं। नरतन पाकर रामपद-विमुख होना पारसका फेंक देना है। विषयमें मन देना काँचके टुकड़ेका उठा लेना है। [रा० प्र०—किरिच=लोहेका मल जिसे मण्डूर कहते हैं। पारसके साहचर्यसे लोहेका ही अर्थ ठीक बनता है।]

३—'काँचकी किरिच एक तो किसी कामकी नहीं उसपर फिर हाथमें गड़ जानेका भय होता है। उसकी झूठी चमक देख उठा लेते हैं। और जिसके स्पर्शमात्रसे लोहा सोना हो जाता है ऐसी सब धनकी मूल पारसमणिको फेंक देते हैं।' (वै०) इसी तरह विषयमें सुखके सदृश सुखाभासमात्र होता है, सुख उसमें है ही नहीं और यदि वह गड़ गया तो महान् दुःखका कारण होता है। (वि० त्रि०)

वि० त्रि०—*'कर ते डारि......'* इति। भाव कि जिन्हें पारसका प्रभाव नहीं मालूम है, जो उसका मूल्य कुछ नहीं समझते, वे कोई भी वस्तु बदलेमें मिलनेकी आशासे उसे पहले ही फेंक देते हैं। उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि देर होनेसे सौदा बिगड़ जाय। इस तरह उनके हाथमें आया हुआ पारस व्यर्थ हाथसे निकल जाता है। इसी भाँति भजन अपने हाथकी चीज है, इसके लिये कहीं बाहर दौड़-धूप नहीं करना है। भजनके लिये केवल अन्तर्मुख होनेकी आवश्यकता है, इसीलिये 'हाथमें' होना कहा। पारस अमूल्य है, वैसे ही भजन अमूल्य है।

मिलान कीजिये और देखिये—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई॥'* (४४)

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥ १३॥
पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ १४॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥ १५॥

अर्थ—संसारमें दरिद्रके समान दूसरा दुःख नहीं है। संतसमागमके समान संसारमें कोई भी सुख नहीं है॥ १३॥ हे खगराज! वचन, मन और कर्मसे परोपकार करना संतोंका सहज स्वभाव है॥ १४॥ संत पराये हितके लिये दुःख सहते हैं और भाग्यहीन असंत पराये दुःखके लिये दुःख सहते हैं। अर्थात् दूसरोंको दुःख पहुँचे चाहे उसके लिये स्वयं दुःख भोगना पड़े तथा अभागी असंत दूसरोंके दुःखके कारण होते हैं॥ १५॥

नोट—१ *'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* भाव कि दुःख तो बहुत हैं पर इसके समान दूसरा दुःख नहीं। दरिद्र=निर्धनता। किसीने कहा है कि '**कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते**' अर्थात् स्त्रीतक त्याग देती है इससे निर्धनिकका कष्ट क्या और होगा? भुशुण्डिजी इस दुःखको स्वयं भोग चुके हैं। यथा—*'परेउ दुकाल बिपत्ति बस तब मैं गएउँ बिदेस॥'* (१०४) *'गएउँ उजैनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥'* अतः इसका अनुभव इनको खूब है। मिलान कीजिये—'**अहो नु कष्टं सततं प्रवासस्ततोऽतिकष्टः परगेहवासः। कष्टाधिका नीचजनस्य सेवा ततोऽतिकष्टा धनहीनता च॥**', '**वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलाम्बुभोजनम्। तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥**' '**दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं संरोचते न दारिद्र्यम्। अल्पक्लेशं शरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥**' (सु० र० भा० दरिद्रनिन्दा)।

वि० त्रि०—संसारमें छोटी-से-छोटी सुविधाके लिये मूल्य चाहिये। दरिद्रको अर्थाभाव है, अतः जीवनधारणानुकूल व्यापार चलानेके लिये उसे साधन नहीं है। अतः उससे बढ़कर दुःखी कोई नहीं है।

पर ऐसे दरिद्र भी परम सुखी देखे गये हैं। यथा—'*तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥*' दरिद्रमें और उनमें भेद इतना ही है कि दरिद्र विषयरत है और वे विषयविमुख विरागरत हैं, मोहके हाथके बाहर हैं। अतः वास्तवमें तो दरिद्र मोह है, यथा—'*मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।*' मोहयुक्त धनी भी कौड़ी-कौड़ीके लिये तड़फड़ाते देखे गये हैं और वैराग्यवान् तो धन-धान्यसे भरे घरको सदासे लात मारते आये हैं। जहाँ जिस परिमाणमें मोह है वहाँ उस परिमाणमें दुःख है।

वै०—१ '*दरिद्र सम दुख जग माहीं॥*' जाड़ा लगनेपर वस्त्र नहीं, भूख लगनेपर भोजन नहीं—यह दुःख होनेपर सब दुःख भूल जाते हैं, बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा—'**वासुदेव जराकष्टं कष्टं निर्धनजीवनम्। पुत्रशोको महाकष्टं कष्टात्कष्टतरं क्षुधा॥**'

२—'*संत मिलन सम सुख जग नाहीं*', क्योंकि और सुखोंमें वासना नहीं जाती, दूसरे वे सब अन्तमें दुखदायी हैं, उनमें भलाई नहीं है और संतसङ्ग निर्वासिक सुख है, एकरस भीतर-बाहर परिपूर्ण है और अन्तमें भलाई है। '*स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥*' (४४। १) देखो।

रा० शं०—'*संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥*' यह भुशुंडिजीका स्वयं अनुभव है। एक ही परमसाधुके मिलनेसे वे इस उत्तम सुखको पहुँचे।

प० प० प्र०—दुःख और सुख विरोधी हैं। अतः दुःख और सुखके कारण भी परस्पर विरोधी होने चाहिये। दरिद्रका अर्थ 'धनका अभाव' लेनेसे ऐसा विरोध नहीं रहता है। मनुजी, सत्यकेतु आदि बड़े-बड़े राजा सर्वस्व त्याग करके जान-बूझकर लौकिकदृष्ट्या दरिद्र नहीं बने। भरतजी कहते हैं—'*सोक समाज राज केहि लेखे॥*' '**यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि। आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥**' अतः दरिद्रका अर्थ ज्ञानका दरिद्र, अज्ञान मोह है। मोह सभी दुःखोंकी जड़ है। बिना धनके मनुष्य भी सुखी हो सकता है और मानवेतर जीवोंको धनकी आवश्यकता ही नहीं। '*मोह दरिद्र निकट नहिं आवा॥*' श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कह गये हैं कि 'अज्ञान दारिद्र्य माझें (मेरा) सरेना (नहीं मिटता) है।' संत और अज्ञान विरोधी हैं, जैसे सुख और दुःख विरोधी हैं।

वि० त्रि०—'*संत मिलन सम......*' इति। संसार सुखके लिये पागल है, पर संसारमें पूर्ण कुछ भी नहीं सब कुछ आपेक्षित है, परिच्छिन्न है। यहाँ सुख भी परिच्छिन्न है। परिच्छिन्नसे तृप्ति नहीं होती। अतः जाने या बिना जाने संसार अपरिच्छिन्न सुखको ढूँढ़ रहा है। सुखसागरराम ही सबके हृदयाराम हैं। वे ही सबके अभीष्टतम हैं। सन्तोंका मिलना श्रीरामके मिलनेका नियत पूर्वरूप है; यथा—'*जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा॥*' सन्त भगवान्‌के प्रिय हैं, अतः उनके समान हैं। अतः उनका मिलना हृदयाराम रामके मिलनेके समान है। यथा—'*कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठसिला पहिचानत॥ तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा॥*' अल्पमें सुख नहीं, जो भूमा है उसीमें सुख है। संसारके सुखोंमें कोई ऐसा नहीं जो संतसमागम-सुखके समान हो—'*मुख देखत पातक हरैं परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं॥*' (वै० सं०) क्योंकि यह सुख भूमा है। संतसमागमसुखमें मनुष्य संसार भूल जाता है और वही सुख भगवत्प्राप्तिका कारण होकर नित्य हो जाता है इसीसे कहा कि '*संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥*'

करु०—पूर्व कहा कि सन्तोषसे सुख होता है, यथा—'*बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥*' और यहाँ कहते हैं कि संत-मिलनके समान सुख नहीं। भाव यह है कि संत मिलनेपर सन्तोषरूपी परम धन देकर असन्तोषरूपी दारिद्र्यको दूर कर देते हैं, इसीसे तब मनुष्य सुखी हो जाता है।—'**असन्तोषो हि दारिद्र्यं सन्तोषः परमं धनम्॥**'

वि० त्रि०—१ (क) '*पर उपकार......*' इति। जो अपना उपकार न कर सका वह पराया उपकार नहीं कर सकता। सब किसीमें परोपकार करनेकी पात्रता नहीं होती। जिन्हें अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जो पूर्णकाम हैं, वे ही परोपकार कर सकते हैं। (ख) '*बचन मन काया*'—मन, वाणी और कर्मका

एक रंग होना संतका लक्षण है। मन, वाणी और कर्ममें भेद पड़ना कुटिलता है। यथा—*'सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय बानि। तुलसी सरलै संत जन ताहि परी पहिचानि॥'* (वै० सं०) *'तन करि मन करि बचन करि काहू दूषत नाहिं। तुलसी ऐसे संतजन रामरूप जग माहिं॥'* (वै० सं० २३) (ग) *'संत सहज सुभाउ'*—भाव कि संत पैदा होते हैं, संत बनाये नहीं जाते। जो गर्भज्ञानी हैं, जो पूर्णकाम हैं, किसी प्रारब्धके शेष रहनेके कारण जिनका जन्म हुआ है, वे ही मनसा, वाचा, कर्मणा परोपकार करनेकी योग्यता रखते हैं और वे ही संत हैं। जो पहले द्रोही रह चुके हैं और पीछेसे सत्संगद्वारा जिनकी बुद्धि सुधर गयी और परोपकाररत हुए, वे 'संत-समान' हैं, संत नहीं हैं। यथा—*'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥'*

२ (क) *'संत सहहिं दुख——'* इति। जो इस जगत्‌में आया है, उसे दुःख भोगना ही पड़ता है, प्रारब्ध किसीके हटाये नहीं हटता। अतः दुःख संतको भी भोगना पड़ता है। पर संत और असंतके हृदयमें भेद है। संतका हृदय इतना कोमल होता है कि वह पराया दुःख देख नहीं सकता, अतः दुःख उठाकर वह उसका प्रतीकार करता है, यथा—*'संत हृदय नवनीत समाना।——पर दुख द्रवै सुसंत पुनीता।'* अतः दूसरेके लिये दुःख उठानेमें उनके दुःखका भोग पूरा हो जाता है। (ख) *'पर दुख हेतु——'* इति। भाव कि असंतोंका हृदय इतना कठोर होता है कि उन्हें दूसरेके दुःखमें आनन्दानुभव होता है। अतः वे दूसरेको दुःख देनेमें दुःख उठाते हैं। इस भाँति उनके दुःख-सुखका भोग हो जाता है और परलोकके लिये दुःख-भार भी खूब लद जाता है। अपने स्वार्थकी ओर देखनेवाले संत-असंत दोनों नहीं होते और अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें दोनों ऐसे दृढ़ होते हैं कि लोकमें उसकी उपमा नहीं है। यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'*

वै०—*'पर दुख हेतु असंत अभागी॥'* अभागीका भाव कि पाप करते-करते पूर्वका भाग्य नष्ट हो गया, असत्कर्मोंकी सहायता पाकर अभाग्य प्रचण्ड है, अपना प्रयोजनरहित परहानिमें तत्पर होने तथा आदि-अन्तमें दुःख भोगनेसे अभागी कहा। यथा—'**एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥**' (भर्तृहरि)

भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥ १६॥
सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥ १७॥

शब्दार्थ—**भूर्जतरू**—भोजपत्रका वृक्ष। यह हिमालयपर १४००० फुटकी ऊँचाईतक होता है, इसकी छाल कागजके समान पतली होती है और कई परतोंमें होती है। यह छाल प्राचीनकालमें ग्रन्थ और लेख आदि लिखनेमें बहुत काम आती थी; और अब तान्त्रिक लोग इसे बहुत पवित्र मानते और इसपर प्रायः यन्त्र-मन्त्रादि लिखा करते हैं। छालका उपयोग छाते बनाने, छत छाने और पहननेके काममें भी होता है। इसपर मन्त्र, यन्त्र, गोरोचन, केसर, रक्तचन्दन आदिसे कार्यानुसार विविध लेखनियोंसे लिखकर ग्रह, भूत-पिशाच, रोग, अल्पमृत्यु, अभिचार आदिकृत पीड़ासे मानव जीव मुक्त हो सकता है। यमुनोत्तरीकी तरफ इसका प्रयोग पत्तलके स्थानपर भी किया जाता है।

अर्थ—दयावान् संत भोजपत्रके समान सदा परायेकी भलाईके लिये भारी विपत्ति सहते रहते हैं॥ १६॥ खल सनके समान दूसरोंको बाँधते हैं (उनके बन्धनके लिये) अपनी खाल खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं॥ १७॥

नोट—१ (क)—संत और खल, विपत्ति तो ये दोनों ही सहते हैं, संत *'निति सह बिपति बिसाला'* और खल भी *'खाल कढ़ाइ बिपति सहि।'* पर भेद यह है कि एक कृपाल है, सब जीवोंपर उसके चित्तमें दया है अतः वह परायेके हितके लिये दयावश भारी-भारी संकट सहकर परोपकार करता है; दूसरा पराया हित देख नहीं सकता—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहि खल रीति'* इससे वह ईर्ष्या-डाहवश परहित-

हानिमें तत्पर रहता है, अपने प्राण भी देकर दूसरेके हितकी हानि करना चाहता है—*'परहित हानि लाभ जिन्ह केरें' 'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं'*—बा० ४ (२, ७) में जो भाव है वे यहाँ भी हैं। (ख) संतके विषयमें 'विशाल' विपत्ति सहना और खलके सम्बन्धमें विपत्ति सहना कहा, पर खलका मरना कहा और संतका मरना न कहा। भाव यह कि संत विशाल विपत्ति नित्य ही सहते हैं तो भी परहितके लिये होनेसे मरते नहीं और यदि उसमें शरीर छूट भी गया तो उनका यश चिरकालतक बना रहता है। यथा—*'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* और खलके मरनेपर उसका नाम भी कोई नहीं लेता। (ग) संतको भोजपत्रकी उपमा दी क्योंकि भोजपत्र उत्तम कार्योंमें लगता है, इसपर पवित्र यन्त्र-मन्त्र लिखे जाते हैं, जिससे दूसरोंका कल्याण होता है, इसी तरह संत-शरीरसे दूसरोंका कल्याण होता है। (घ) भोजपत्र अपनी खाल खिंचाकर परोपकार करता है और सन पर-अपकार करनेके लिये अपनी खाल खिंचाता है। इसके खालकी रस्सी बनती है जो दूसरोंका बन्धन करती है। (ङ) कृपाल, यथा—*'दया लागि कोमलचित संता।'* 'नित' पाठका अर्थ नित्य और *'निति'* का अर्थ 'लिये' होगा।

करु०—भोजपत्र परहितके लिये अपना बकला दे डालता है और खल अपनी खाल निकलवाकर पर-बन्धन करता है।

वै०—१ भोजपत्रकी गादि (गोंद) गुग्गुल है जो धूपमें पड़ती है। २—*'सन इव……।'* सनईका वृक्ष काटकर पहले पानीमें सड़ाया जाता है फिर उसकी त्वचा निकालकर उसे पटक-पटककर पानीमें धोते हैं फिर रेशा-रेशा अलगकर काता-बटा-ऐंठा जाता है, इत्यादि। सरितामें पड़कर स्वयं सड़ जाता है और जो उस जलको पिये वह मरे। इसी तरह खल अनेक महान् कष्ट सहकर भी पर-अपकार करते हैं और अपना शरीर भी छोड़ देते हैं।—*'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।'* खलको चाहे कोई जलमें डुबोये, खाल खींचे, मारे और खाल खींचकर प्राण ले, पर उस खालसे भी यदि किसीको दुःख पहुँच सके तो उसे इस दुर्गतिके साथ मरना भी स्वीकार है।

वि० त्रि०—१ *'भूर्जतरू सम……'* इति। (क) आगे दोहा १२५ (६) में कहा है *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* वहाँ चार अचेतन पदार्थोंके साथ संतोंका उल्लेख यह बात दिखलानेके लिये है कि परहितका कार्य करनेके लिये इनका भी व्यवहार अचेतनवत् ही है, ये सुख-दुःखको नहीं गिनते। विटपमें फल दूसरोंके लिये लगते हैं, वृक्ष स्वयं एक फल भी नहीं खाता, नदी अमृत-सा जल लेकर दूसरोंके लिये बहती है, पर्वतकी सम्पत्ति भी दूसरोंके लिये है, पर्वतको उसका उपभोग कुछ भी नहीं है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इन सबोंमें भोजवृक्ष दानवीर है; उसकी छाल लोगोंके काम आती है। उसीपर पुस्तकें लिखी जाती हैं, यन्त्र लिखे जाते हैं, पुड़िया बाँधनेके काममें भी आती है। इसकी समता संतोंसे दी जा सकती है। (ख) *'निति सह'* से जनाया कि वे परहितके लिये विपत्ति सहनेमें कभी दुःखसे ऊबते नहीं। उनका शरीर सर्वसाधारणकी सम्पत्ति हो जाती है। (ग) *'बिपति बिसाला'*—भाव कि खाल कढ़ाना सब विपत्तियोंसे भारी है, जिसे भोज-वृक्ष नित्य सहा करते हैं। इसी भाँति संत परहितके लिये भारी-से-भारी विपत्ति सहते हैं।

२ *'सन इव……'* इति। (क) *'सन इव'* से जनाया कि खल भी पर-अपकारके लिये जड़ीभूत रहते हैं, अपने सुख-दुःखका ध्यान उन्हें भी नहीं रहता, उन्हें भी शत्रु-मित्रका विभेद नहीं रहता। यथा—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* (ख) सनसे जीवगण बाँधे जाते हैं, वह अन्य किसी काममें नहीं आता। पटुयेकी भी रस्सी बनती है पर वह कमजोर होता है और पटुआ अन्य काममें भी आता है, अतः उससे कुछ उपकार भी होता है, इसलिये पटुआ न कहकर सन कहा। जितने दुःख हैं उन सबका मूल परबन्धन (परवशता) है, यदि परबन्धन न हो तो कोई दुःख ही नहीं हो सकता। इसलिये और कोई दुःख देना न कहकर परबन्धन लिखा।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥ १८॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥ १९॥

शब्दार्थ—अहि=सर्प। हिम उपल=ओले, यथा—*'जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।'* **ससि**=खेती।

अर्थ—हे सर्पशत्रु! सुनिये। खल बिना स्वारथके ही सर्प और मूसाके समान दूसरोंका अपकार करते हैं॥ १८॥ परायी सम्पदाको नाश करके (स्वयं ऐसे) नष्ट हो जाते हैं जैसे ओले खेतीका नाश करके आप भी नहीं रह जाते (गल जाते हैं)॥ १९॥

नोट—*'अहि मूषक'* दो दृष्टान्त देकर दो बातें कहीं, सर्प प्राण लेता है और मूसा धनधान्यको हानि पहुँचाता है, और खलमें ये दोनों अवगुण एक ठौर ही स्थित हैं। पुनः, *'बिनु स्वारथ पर अपकारी'* अर्थात् परहितहानिसे अपना स्वार्थ बनता हो तो पराया काज लोग बिगड़ जाने देते हैं; इसीसे यहाँ *'बिनु स्वारथ'* पद दिया अर्थात् दूसरेको हानि पहुँचानेमें इनका कोई स्वार्थ निकलता हो सो बात नहीं है। इसी तरह सर्प दूसरेको डस लेता है तो वह मर जाता है पर सर्पको इससे क्या लाभ हुआ, कुछ नहीं। इसी तरह मूसा कपड़े, कागज, पुस्तकें काट डालता है, उससे उसे क्या लाभ हुआ, उसका क्या स्वार्थ सिद्ध हुआ? कुछ भी तो नहीं; क्योंकि वह खानेकी वस्तु तो है नहीं।* २—*'जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं'* इति। *'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।'* बा० ४ (७) देखो। संत-असंतका मिलान—

	संत	खल
१ स्वभाव	*पर उपकार बचन मन काया*	*खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।*
२ कार्य	*संत सहहिं दुख परहित लागी*	*परदुख हेतु असंत अभागी*
३ दोनों वृक्षरूप	*भूर्जतरू सम संत कृपाला।*	*सन इव खल परबंधन करई।*
	परहित निति सह बिपति बिसाला॥	*खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥*
४ दोनोंका	*संत उदय संतत सुखकारी।*	*दुष्ट उदय जग आरत हेतू।*
उदय	*बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी*	*जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू*

वि० त्रि०—१ *'अहि मूषक इव'* इति। निःस्वार्थ उपकार करनेका उदाहरण चेतन जीवोंमें नहीं मिला, इसलिये उसका उदाहरण नहीं दिया। पर बिना स्वार्थके अपकार करनेवालोंका उदाहरण है, अतः कहते हैं कि *'अहि मूषक इव।'* सर्प और मूषक तो हानि करके बच जाते हैं, पर सबको हानि करनेवाला खल तो बच नहीं सकता, इसलिये आगे कहते हैं कि *'पर संपदा......'*

२ *'पर संपदा—'* परायी सम्पदाके नाशका कारण है कि वे परायी सम्पदाको देख नहीं सकते। उसे देखकर उनके हृदयमें इतनी चोट पहुँचती है कि उसका नाश किये बिना उन्हें चैन नहीं, चाहे उनका इसमें मरण ही क्यों न हो जाय। ओले गिरनेके पूर्व घन-घमण्डका गर्जन, बिजलीकी चमक आदि होती है, वैसे ही खलोंको पर-सम्पदा देख बड़ा दर्प होता है, वे गरजते-तड़पते और चमकते हैं जिससे संसार भयभीत हो जाता है। पर-सम्पदाका नाश करनेके समय ही उनका अधःपतन होता है और पीछे वे गल-गलकर मर जाते हैं।

प० प० प्र०—दूसरोंका अपकार करनेवालोंके दो दृष्टान्त दिये। *'अहि मूषक'* का दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अपने विनाशको बचाते हुए दूसरोंका अपकार करते हैं। साथ ही इस दृष्टान्तसे यह भी जनाया कि ये आपसमें भी वैरीके समान व्यवहार करते हैं जैसे अहि और मूषक। दूसरा दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अहि-मूषकसे भी अधिक दुष्ट हैं। ये दूसरोंका विनाश करनेके लिये अपने नाशकी परवा भी नहीं करते।

दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ २०॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी॥ २१॥

* 'परिशुद्धामपि वृत्तिं समाश्रितो दुर्जनः परान् व्यथते। पवनाशिनोऽपि भुजगाः परोपतापं न मुञ्चन्ति॥ बहुनिष्कपटद्रोही बहुधान्योपघातकाः। रन्ध्रान्वेषी च सर्वत्र दूषको मूषको यथा॥ नौश्च दुर्जनजिह्वा च प्रतिकूलविसर्पिणी। परप्रतारणायैव दारुणा केन निर्मिता॥' (१—३। सु० र० मा०)

शब्दार्थ—**उदय**=सुखसमृद्धि (दुष्ट और संतके पक्षमें)।=क्षितिजमें प्रकट होना (ग्रहके पक्षमें)। **तमारी**=अन्धकारका शत्रु सूर्य।

अर्थ—दुष्टका उदय (उन्नति) जगत्को दु:खका हेतु (कारण) होता है जैसा कि नीच ग्रह केतु प्रसिद्ध ही है॥ २०॥ संतोंका उदय सदा सुखका करनेवाला है जैसे चन्द्रमा और सूर्यका उदय संसारको सुखद है॥ २१॥

नोट—१ दोनों अर्धालियोंमें उदाहरण अलङ्कार है।*'दुष्ट उदय जग आरत हेतू।——'* *'उदय केतु सम हित सब ही के'* ४ (६) देखिये।*

वि० त्रि०—*'दुष्ट उदय——'* इति। (क) *'उदय'* का भाव कि पूर्व जितनी बातें कही हैं वे साधारण अवस्थाकी बातें हैं, पर जब दुष्टका उदय होता है तब तो संसारपर बड़ी मुसीबत आ जाती है। जब-जब संसारपर मुसीबत आयी है, तब-तब उसका कारण दुष्टका उदय ही हुआ है। दुष्टकी जब उन्नति होगी तब वह अपनी प्रभुताका उपयोग संसारभरको दु:ख देनेमें करेगा। [(ख) *'आरति हेतू'* कहकर जनाया कि संसार उससे आर्त होकर त्राहि-त्राहि करने लगता है] (ग) *'अधम ग्रह केतू'*—पीड़ा करनेवालेको ही ग्रह कहते हैं। जो पिण्ड आकाशमें घूमते दिखायी पड़ते हैं, वे सभी ग्रह हैं। वे सभी पीड़ा देनेवाले हैं पर व्यक्तिविशेषको समयविशेषमें ही पीड़ा देते हैं, और लोगोंके लिये सुखकर भी होते हैं। इनमें केतु विचित्र है। सब ग्रह पूर्वमें उदय होते हैं पर केतु पश्चिममें उदय होते हैं। इनकी संख्या भी बहुत है। आचार्योंने आकाशमण्डलको सत्ताईस भागोंमें विभक्त किया है, यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि। अत: ग्रहोंका उदय किसी-न-किसी नक्षत्रपर ही होता है और तदनुसार उनका शुभाशुभ फल भी होता है; पर केतु चाहे जिस नक्षत्रपर उदय हों खोटा ही फल देंगे। देशविशेषके पालकपर ही नक्षत्रविशेषमें उदित होकर चोट करते हैं, अत: देशके देशपर आफत ढहाते हैं। इसलिये केतुको *'अधम ग्रह'* कहा। ये प्रसिद्ध हैं, इनकी चाल सब ग्रहोंसे निराली है, ये उलटा ही चलते हैं, इसीसे इनकी उपमा खलसे दी। ये भी उलटा ही चलते हैं। यथा—*'चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े।'*

नोट—२ (क) *'संत उदय संतत——।'* यहाँ *'संतत'* पद देकर सूचित किया कि इनका उदय सदा रहता है और दुष्टोंका उदय कुछ देरके ही लिये होता है। यथा—*'निफल होहिं रावन सर कैसें। खल के सकल मनोरथ जैसें॥'* (९०। ६) *'बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के॥'* (९१। ४) जैसे सूर्य-चन्द्र सदा रहते हैं और केतुका उदय कभी भूले-भटके। पर दुष्ट थोड़े ही उदयमें बहुत कुछ हानि पहुँचा देते हैं। (ख) सूर्य और चन्द्र जगत्का हित करते हैं, अन्धकारको दूर कर प्राणियोंको सुख देते हैं, अन्न-जल-ओषधि-वनस्पति इत्यादि देकर जगत्का पालन-पोषण करते हैं, इत्यादि सुख देनेकी अनेक बातें पूर्व लिखी जा चुकी हैं। *'जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।'* (१। २०। ७) देखिये। पुन:, सूर्य और चन्द्र दोनोंको कहकर दिन-रात वा निरन्तर सुखदायक जनाया। सूर्य दिनहीमें सुख देता है और चन्द्र रातहीमें, संत दिन-रात दोनोंमें। पुन:, सूर्य सबको सुखद नहीं और न चन्द्र सबको सुखद; अत: दोनोंकी उपमा देकर संतका सबको सुखद होना जनाया। पुन: भाव कि चन्द्र शरदातपको हरता है और संत त्रितापको हरते हैं। सूर्यके प्रकाशसे अन्धकार दूर होता है और संत ज्ञानका प्रकाश देकर संशय-मोहतमको दूर करते हैं इत्यादि।

वि० त्रि०—(क) *'संतत'* का भाव कि दुष्टके उदयके समय भी संतका उदय रहता है और उनके अस्तके समय भी। दुष्टका उदय संसारके लिये रोग है, अधिक दिन ठहर जाय तो संसारका नाश हो जाय। इसीलिये प्रबल दुष्टके उदय होनेपर उसके नाशके लिये अवतार होता है। यथा—*'दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महामहि भूरि रुजा॥'* (ख) *'इंदु तमारी'* कहकर यह भी जनाया कि संतोंकी संख्या दुष्टोंकी अपेक्षा बहुत कम होती है, पर उनके बिना संसारका काम नहीं चलता। पुन: यह कि संत चन्द्रके समान प्रियदर्शन होते हैं, उनके दर्शनसे पाप-ताप दूर होता है, पर उनमें ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश अहर्निश बना रहता है।

* यथा मयूरचित्रे—'यस्य दिगभ्युदयं केतुस्तामभियोजयत्। यतो यत: शिखी याति राजा गच्छेत्ततस्तत:॥'

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गिरीसा*॥ २२॥
हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥ २३॥
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥ २४॥

अर्थ—श्रुतिमें अहिंसा परमधर्म कहा गया है। परनिंदाके समान पाप पर्वतराज नहीं है अर्थात् ऐसा भारी पाप दूसरा नहीं है॥ २२॥ हर और गुरूकी निन्दा करनेवाला मेढक होता है। एक हजार जन्म वही (दादुर) शरीर पाता है॥ २३॥ ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला अनेक नरक भोगकर फिर संसारमें कौवेका शरीर धारण कर जन्म लेता है॥ २४॥

रा० शं०—गरुड़का प्रश्न था *'कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला'*, वैसा ही उत्तर है *'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'*

वि० त्रि०—(क) *'परम धर्म'*—सात्त्विकी श्रद्धायुक्त दृढ़ विश्वासके साथ तथा निर्मल मनसे वेदोदित शुभ धर्माचरण करनेसे जिस धर्मका उदय साधकके हृदयमें होता है उसे परम धर्म कहते हैं। (ख) *'अहिंसा'*—सर्वथा सर्वदा प्राणिमात्रसे द्रोह न करनेको अहिंसा कहते हैं। यह सब यम-नियमोंका मूल है। जाति, देश, काल और समयमें भी यदि इसमें व्यभिचार न हो तो यह महाव्रत हो जाता है। जैसे मछवाहेका मछली छोड़कर और कहीं हिंसा न करना जातिकृत व्यभिचार है। तीर्थमें न मारना देशकृत व्यभिचार है। चतुर्दशी आदि पुण्यतिथिको न मारना कालकृत व्यभिचार है। उपर्युक्त तीनों प्रकारसे हिंसा यदि छूट गयी फिर भी देव-विप्र अतिरिक्त और किसीके लिये हिंसा न करना समयकृत व्यभिचार है। सब भूमिमें सब विषयोंमें सर्वथा व्यभिचार न होना ही सार्वभौम अहिंसा है। यही महाव्रत है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृता, कारिता और अनुमोदिता। स्वयं करना कृता, दूसरेसे करवाना कारिता और करते हुएका अनुमोदन करना अनुमोदिता हिंसा कहलाती है। इनमेंसे एक-एकके तीन-तीन भेद हैं। चर्ममांसके लोभसे की हुई लोभपूर्वक, अपकारीके साथ की हुई क्रोधपूर्वक और धर्मदृष्टिसे की हुई मोहपूर्वक हिंसा है। इनमेंसे भी एक-एक मृदु, मध्य, तीव्र भेदसे तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। ये स्थूल भेद हैं। सूक्ष्म भेदकी संख्या नहीं है। (ग) *'पर निंदा—'*—सच्चे दोषकथनको परिवाद और झूठे दोषकथनको निन्दा कहते हैं। पराये दोषका कहना ही बड़ा भारी पाप है, ऐसे पापीको चुगलखोर कहते हैं, यथा—*'पिसुन पराय पाप कहि देहीं।'* झूठ बोलना सब पापोंसे बड़ा माना गया है। अवीचि नामका सबसे नीचेका नरक झूठोंके ही लिये है। अतः निन्दामें दोनों ही आ गये। निन्दा करनेसे किसीकी कीर्तिमयी देहका भेदन होगा, यदि यह सम्भावित हुआ तो उससे उसको कोटि मरणके तुल्य दारुण दाह होगा, अतः तीव्र हिंसा भी हुई। (घ) *'अघ न गिरीसा'*—असत्य पर्वतके समान भारी पाप है, अन्य पाप इसके सामने घुँघुचीके तुल्य हैं। यथा *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥'* वही असत्य जब परदोषकथनसे प्रगुणीकृत हुआ तो वह पर्वतराज (सुमेरु) के तुल्य हो गया। अतः परनिन्दा पापोंमें सुमेरु है, कोई महापाप अतिपाप इसके तुल्य नहीं।

सि० ति०—जो अपनी ओरसे बनाकर किसीपर दोषारोपण किया जाता है, उसे अपवाद एवं निन्दा कहते हैं। यथा—*'अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास।'* (लं० ३०) इसीपर कहा है—*'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।'* इसमें रावणने श्रीरामजीपर झूठा ही दोषारोपण किया था। जो दोष जिसमें हो उसका कहा जाना परिवाद है। यह किसीके सुधारके लिये दूषित नहीं है। पर उसके दुखानेके उद्देश्यसे कहना यह भी पाप है। गुरुजनोंका परिवाद भी कहना मना है। वाल्मीकीयमें दोनों एक साथ कहे गये हैं; यथा—**'बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥'**(२। १२। २७) अर्थात् हजारों स्त्रियाँ और हजारों उपजीवी हैं, पर श्रीरामजीके सम्बन्धमें कोई भी परिवाद (सकारण दोषकथन) या अपवाद (अकारण दोषकथन) नहीं सुना गया है—यह राजा दशरथने कहा है।

* गरीसा—पाठान्तर।

नोट—१ पापको पहाड़ कहा है, यथा—*'पाप पहार प्रगट भइ सोई।'* इसके सदृश दूसरा पाप नहीं अर्थात् यह पापोंका राजा है, अतः इस पापको *'गिरीस'* पर्वतराज कहा है। अर्थात् यह महापाप है—(पं०)। विशेष *'परहित सरिस धर्म नहिं भाई ……॥'* (४१। १) *'धरम कि दया सरिस हरिजाना'* में देखिये। पुनश्च यथा—**'अहिंसा परमो धर्मो अहिंसा परमं तपः। निन्दा च परमोऽधर्मः हिंसा च परममघम्॥'**

वि० त्रि०—२ (क) *'दादुर होई ……'* इति। मनुष्य-शरीर पाकर मनुष्योचित कार्य न किया, उसकी निन्दासे हरि, हर, गुरुकी कोई क्षति नहीं हुई, पर वह व्यर्थका टर्र-टर्र करता रह गया, अतः दूसरे जन्ममें मनुष्ययोनि छीन ली गयी और व्यर्थकी टर्र-टर्र करनेसे मेढकयोनि उसे मिली। यहाँ *'सहस्र'* शब्द अनन्तताका द्योतक है। उसने अनन्तकी निन्दा की है, यथा—*'जानेसु संत अनंत समाना।'* अतः उसे अनन्तकालतक मनुष्य-योनिकी प्राप्ति न होगी। (ख) *'पाव तनु सोई'*—मेढकमें यह विशेषता है कि उसे वही शरीर पुनः-पुनः मिलता रहता है। गर्मीके दिनोंमें ये सूखकर मिट्टीमें मिले रहते हैं; जहाँ वर्षाका पहला जल गिरा कि ये उसी सूखी देहसे फिर पैदा हो गये।

नोट—२ *'द्विज निंदक ……'* इति। द्विजनिन्दाका घोर परिणाम दिखाया कि सब नरक भोगनेपर वह भी पापमुक्त न हुआ। जन्म हुआ तो चाण्डालपक्षीका। जिस मुँहसे निन्दा की उससे विष्ठा खावे। हरिगुरुनिन्दासे द्विजनिन्दाको अधिक जनाया; क्योंकि उसका परिणाम केवल यह दिया कि जिस जिह्वासे उसने निन्दा की वह जिह्वा ही निकाल ली गयी, जिह्वाहीन तन उसको मिला और इसमें उस जिह्वासे मलिन वस्तु खानी पड़ती है। [एक गुरु-अपमानसे ही भुशुण्डिजीको सहस्र तन धरना पड़ा था। *'द्विज निंदक'*—लोमशजीसे वाद-विवादमात्रसे *'बायस'* होना पड़ा था। (रा० शं० श०)]

वि० त्रि०—३ *'द्विज निंदक ……'* इति। (क) भाव कि पूर्वजन्मके कर्मोंके विपाकसे जाति, आयु और भोग प्राप्त होता है। शुभाशुभ कर्मोंके उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यानुसार जाति, आयु और भोगमें तारतम्य होता है। अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न न करके, द्विजशरीर प्राप्त करनेकी चेष्टा न करके जो ईर्ष्यावश द्विजकी निन्दा किया करते हैं वे द्विजनिन्दक हैं। कर्ममार्गके दो साधन हैं—ब्राह्मण और गौ। ब्राह्मणमें मन्त्र और गौमें गव्य निहित है। भैंस-बकरीमें भी दूध होता है, क्षत्रिय-वैश्यमें भी मन्त्र है पर वे यज्ञ-यागादिके कामके नहीं हैं। अतः गौ-ब्राह्मणकी निन्दा प्रकारान्तरसे वेदमार्गकी ही निन्दा हुई। बहुनरक अर्थात् बहुत प्रकारके नरक। (ख) *'नरक भोग करि जग जनमइ'* इति। भाव कि नरक भोगनेके लिये यातना-शरीर मिलता है, जो लोकोत्तर पीड़ा-सहनके समय टिक सके। यथा—*'जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥'* (२। १४६) नरकभोग समाप्त होनेपर वह यातना-शरीर नष्ट हो जाता है और उसी नरकभोगके संस्कारानुकूल उसे संसारमें जन्म लेना पड़ता है। जिस भाँति पात्रमेंसे घी निकाल लेनेपर भी उस पात्रमें घीका संस्कार रहता है, उसी प्रकार पुण्य-पापका भोग समाप्त होनेपर भी उनका संस्कार रह जाता है। उसी संस्कारोचित योनिमें फिर जन्म होता है। (ग) *'बायस सरीर धरि'*—भाव कि द्विजनिन्दकोंको अपना बड़ा भारी पक्ष रहता है, उसके आगे वे वेद-शास्त्रका अनादर करते हैं और स्वयं नवीन धर्म शास्त्रकर्ता बननेका दावा कर बैठते हैं, सत्य वचनपर विश्वास नहीं करते, कौवेकी तरह डरा करते हैं कि कहीं ऋषियोंने वेद-शास्त्र ब्राह्मणोंके लाभके लिये तो नहीं बनाया। यथा—*'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहु पच्छी चंडाला॥ सत्य बचन बिस्वास न करई। बायस इव सब ही ते डरई॥'* वायसगुणसम्पन्न होनेसे उन्हें वही शरीर मिलता है।

सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥ २५॥
होहिं उलूक संतनिंदारत। मोह निसा प्रिय ज्ञानभानु गत॥ २६॥
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥ २७॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवताओं और श्रुतियोंकी निन्दा करते हैं वे रौरव नरकमें पड़ते हैं॥ २५॥

संतनिन्दामें जो तत्पर रहते हैं वे उल्लू होते हैं। उन्हें मोहरूपी रात्रि प्रिय है, ज्ञानरूपी सूर्य जाता रहा (अस्त हो गया)॥ २६॥* जो मूर्ख सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं॥ २७॥

नोट—सुर-श्रुति-निन्दकको अभिमानी, संतनिन्दारतको मोहनिशाप्रिय अर्थात् अज्ञानी और सबकी निन्दा करनेवालेको जड़ कहा। भाव कि राज-धन-ऐश्वर्य इत्यादिके अभिमानवश मतवादसे सुर और श्रुतिकी निन्दा करते हैं। संत ज्ञानवान् होते हैं। ज्ञानको सूर्य कहा है—*'जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'* संतोंके वचन-प्रकाशसे हृदयकी कली खिलती है। इनको ज्ञान भाता नहीं, इसीसे निन्दा करते हैं। उलूकको सूर्य नहीं भाता। अतः ये उलूक होते हैं। निन्दा महापाप है, इस बातको नहीं जानते; इसीसे सबकी निन्दा करते हैं। अपनी हानि नहीं समझते, अतः जड़ कहा। (प्र० सं०) उसकी सोलहो आने प्रवृत्ति जड़ताकी ओर है, उसे चेतनोपयोगी शरीरमात्र किसी भाँति मिल गया है पर है वह जड़ और आत्मघाती। यथा—*'ते जड़ जीव निजातमघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती॥'* (वि० त्रि०)

रा० प्र०—रौरव नरकमें पड़ते हैं, अर्थात् उद्धार किसी तरह नहीं। जिनसे ज्ञान-नेत्र मिलते हैं उन्हीं संतोंकी निन्दा करते हैं अतः अन्धकार-प्रिय उलूकतन मिला। सबकी निन्दा करते, गुणको भी अवगुण कहते, इससे चमगादड़ हुए कि उलटे टँगे, जिस मुँहसे रस भोगे उसीसे मल उगले।

खर्रा—१ ज्ञानभानुगत=ज्ञानरूपी भानुसे बहिर्मुख है। २—यह प्रासंगिक निन्दकोंका कर्मविपाक कहा।

वि० त्रि०—*'सुर श्रुति निंदक—'* इति। १ (क) वेद ही आदिशास्त्र है, वेदके ज्ञानसे ही संसारमें प्रकाश है। जितने प्रचलित मत हैं उनमेंसे यदि वेदोदित धर्म निकाल लिया जाय तो उनमें कुछ भी नहीं रह जाता; अतः वे सब वेदोपजीवी हैं। उस परमेश्वरके आदि-उपदेशकी जो निन्दा करता है, वह श्रुतिनिन्दक है। वेद-प्रतिपाद्य देवतालोग ही इस संसारके अधिकारी (ईश्वरसे नियुक्त अफसर) हैं, जो चारों ओरसे विश्वकी रक्षा किया करते हैं। यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिन काल जम सब अधिकारी॥'* (ख) *'जे अभिमानी'*—भाव कि ऐसे वेद और देवोंकी निन्दा अधम अभिमानी ही कर सकता है। जिस सूर्यके अनुग्रहसे वह देखता है, जिस चन्द्रके अनुग्रहसे मनन करता है, जिस पवनके अनुग्रहसे उसके शरीरमें श्वास चलता है, जिस कुबेरकी कृपासे उसे धन प्राप्त होता है, जिस अग्निकी कृपासे उसे वाणी मिली है, जिस कालकी कृपासे उसका जीवन है, जिस यमके अनुग्रहसे अबाधित जीवन व्यतीत कर रहा है उन्हीं देवताओंकी निन्दा करनेवाले और जिस ज्ञान-सूर्यसे उसे ज्ञान-प्रकाश मिल रहा है उसकी भी निन्दा करनेवालेको रौरव नरकके सिवा और स्थान कहाँ है? यहाँ रौरव शब्द उपलक्षण है; रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र तथा अवीचि सबका बोधक है। अवीचि अन्तिम नरक झूठोंके लिये है, वहाँतक उसको जाना ही है। रौरवसे आरम्भ करके अवीचिमें स्थिर होता है। वहाँसे निकलनेकी अवधि ग्रन्थकार नहीं देते।

२ *'होहिं उलूक संतनिंदारत।——'* इति। (क) जो बड़े उपकारी हैं, जिनके रामचरितामृतकी वर्षा करनेसे जगत् प्लावित हो रहा है, जिनके सद्गुणोंसे संसारमें मङ्गल है उनकी निन्दामें जो लगे हुए हैं वे संतनिन्दारत हैं। भाव कि संतोंका यश किसीके रोके नहीं रुकता पर वे उसके रोकनेमें भी कुछ उठा नहीं रखते, दिन-रात यत्नशील रहते हैं। (ख) जो जैसा चाहता है वैसा ही हो जाता है। यथा—*'जेहिकें जेहिपर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥'* संतनिन्दारत *'मोह निसा प्रिय ज्ञानभानु गत'* हैं। वे प्रकाश नहीं चाहते, अन्धकार चाहते हैं, इसीसे उसे उल्लूकी योनि मिलती है। उल्लूयोनिप्राप्तिको दण्ड भी कहा जाता है, पर वस्तुतः यह संतनिन्दकके चाहे हुए कर्मका वास्तविक परिणाम है। (ग) *'मोह निसा प्रिय'*—भाव कि इसे अविद्यान्धकारमें पड़े रहना ही प्रिय है और संत उसके नाशक हैं, इसीसे उसे संतोंसे द्रोह है। संतोंका कुछ कर तो सकता नहीं, अतः निन्दा ही करता फिरता है, लोकमतको उनके विरुद्ध खड़ा करनेका प्रयत्न करता है।

---

* १—ज्ञानरूपी रवि जिनके मतमें हैं ही नहीं—(पं०)। २—ज्ञानरूप सूर्य उन्हें प्यारा नहीं हैं—(शिला)। ३—ज्ञानरूपी सूर्यके अस्त होनेपर जो मोहनिशा होती है, वही उन्हें प्यारी है। (वि० त्रि०)

३ *'सब कै निंदा——'* इति। (क) भाव कि हर, गुरु, द्विज, सुर, श्रुति और संत इनमेंसे एक-एककी निन्दा करनेवालेकी गति पृथक्-पृथक् कहकर अब सबकी निन्दा करनेवालोंकी गति कहते हैं। सबकी निन्दा करनेवालोंमें उपर्युक्त चारों प्रकारके निन्दकोंके दोष मौजूद हैं। (ख) *'चमगादुर होइ——'*—चमगादड़ देहमें ही उपर्युक्त चारों निन्दकोंकी प्रवृत्ति चरितार्थ हो सकती है। चमगादड़ मेढककी भाँति व्यर्थ शब्द करता, काकके समान छली, मलिन आदि है, मुखसे मल-त्याग करता है, उलटा टँगा रहता है, उल्लूकी भाँति उसे अन्धकार प्रिय है। (ग) पापियोंके मुकुटमणि होनेसे उनके जन्मको अवतार कहा।

करु०—सबकी निन्दाका फल चमगादरतन मिला। जिस मुखसे निन्दा की वह मुख गुदा कर दिया गया; अब उसीसे भोजन करते हैं और उसीसे मल त्याग करते हैं। दूसरा दण्ड यह कि सर्वदा उलटे टँगे रहते हैं। मुख नीचे पैर ऊपर।—भाव कि निन्दकका मुख ही गुदा है—(वै०)।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह* ते दुख पावहिं सब लोगा॥ २८॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते† पुनि उपजहिं बहु सूला॥ २९॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ३०॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्यपात दुखदाई॥ ३१॥

अर्थ—हे तात! अब मानसरोग सुनो, जिनसे सभी लोग दुःख पाते हैं॥ २८॥ मोह सब रोगोंकी जड़ है। फिर उनसे बहुतसे शूल उत्पन्न होते हैं॥ २९॥ काम वात है, अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाये रहता है॥ ३०॥ हे भाई! यदि ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दुःख देनेवाला सन्निपात उत्पन्न होता है॥ ३१॥

नोट—१ *'सुनहु तात——'* इति। (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि *'मानस रोग कहहु समुझाई॥'* इस अत्यन्त आवश्यक सातवें प्रश्नका जिसका भवसागरतरणसे सम्बन्ध है, उत्तर दे रहे हैं। अतएव श्रोताको पुनः सावधान कर रहे हैं। अतः कहा कि *'सुनहु'*। (ख) *'मानस रोगा'* अर्थात् सूक्ष्म शरीरके रोग। (ग) *'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा'* इति। भाव कि सब शारीरिक रोग सबको नहीं होते, पर सभी मानसिक रोग न्यूनाधिक मात्रामें सबको होते हैं। सभी रोग दुःखके देनेवाले हैं, यथा—**'रोगा दुःखस्य दातारो ज्वरप्रभृतयो हि ते'** (माधवनिदाने)। पर शारीरिक रोग बहुतोंको आजीवन नहीं होते और न सब रोग सबको होते हैं, कोई किसीको, कोई किसीको होते हैं। अतः उनका दुःख सबको नहीं प्राप्त होता। पर मानस-रोग सभीको होते हैं, यथा—*'हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।'* (१२२। २) अतः इनसे सब लोगोंका दुःख पाना कहा। (ख) मानस-रोगोंको यहाँ साङ्गोपाङ्ग रूपकसे वर्णन करते हैं।

वि० त्रि०—पूर्व संवाद ज्ञानभक्तिभेद प्रकरणमें ही इन सातों प्रश्नोंके बीज हैं। *'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥'* (११७। ९) सुननेपर यह प्रश्न चित्तमें उठा कि दुर्लभ गतिके साधनके उपयुक्त कौन शरीर है? *'तब फिर जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।'* (११८) सुननेसे प्रश्न उठा कि 'बड़ा दुःख कौन है?' गरुड़जी पक्षिराज हैं। राजाओंका सीमापर बहुत ध्यान रहता है अतः सातों प्रश्न सीमा-सम्बन्धी ही किये *'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।'* (११९। ६) ये तीसरा प्रश्न उठा कि 'कौन सुख भारी है?' *'सो बिनु संत न काहू पाई।'* (१२०। १८) से प्रश्न उठा कि 'संत-असंतका स्वभाव कैसा होता है?' *'परमधर्ममय पय दुहि भाई।'* (११७। १३) से प्रश्न उठा कि 'कौन अघ परम कराल है?' और *'ब्यापहिं मानस रोग न भारी।'* (१२०। ८) से यह प्रश्न उठा कि 'मानसरोग क्या है?' यह प्रश्न श्रोताके मनमें पहले ही उठा था, पर प्रश्नके क्रमके अनुसार अब उत्तर देते हैं।

२ *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।——'* इति। (क) *'सकल ब्याधिन्ह'* से तात्पर्य शारीरिक और

* 'जेहि तें'। † 'तेहि तें'—रा० गु० द्वि०।

मानसिक दोनों प्रकारकी व्याधियोंसे है। रोगविज्ञान निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पाँचोंसे होता है। यहाँपर यथासाध्य निदान, रूप और उपशय कहा जायगा, पूर्वरूप और सम्प्राप्तिका अनुमान कर लेना पड़ेगा। (ख) सम्पूर्ण मानसिक रोगोंका मूल मोह (अज्ञान) है और समस्त शारीरिक रोगोंका मूल प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध भी अज्ञानके ही अन्तर्गत है, अतः सब व्याधियोंका मूल मोह ही हुआ। (ग) *तिन्ह ते पुनि उपजहिं—* '—भाव कि प्रज्ञापराधसे मिथ्याहार-विहारका सेवन होता है और उससे आठ प्रकारके शूल होते हैं। इसी भाँति अज्ञानसे विषयमें प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिसे मानसिक शूल उत्पन्न होते हैं। *'बहु सूला'* का भाव कि शारीरिक शूलोंकी तो गिनती कर ली गयी कि ये आठ प्रकारके हैं पर मानसिक शूलोंकी गिनती नहीं हो सकती।

३—*'काम बात कफ—'* इति। (क) यह स्थूल शरीर वात, पित्त और कफसे ही धृत है, परन्तु ये ही वात, पित्त, कफ जब साम्यावस्था छोड़कर कुपित हो जाते हैं तो शरीरमें रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार यह मानसिक शरीर भी काम (राग), क्रोध (द्वेष) और लोभ (तृष्णा) से धृत है; परन्तु ये ही काम, क्रोध, लोभ जब उचित बर्तावको त्यागकर दुष्ट होते हैं तो अनेक मानसिक रोगोंके कारण होते हैं। इनमें कामकी उपमा वातसे दी गयी है। पित्त पंगु है, कफ पंगु है, वात मात्र गतिशील है। यह जहाँ-जहाँ पित्त-कफको ले जाता है, वहीं ये बादलकी भाँति आकर वर्षा करने लगते हैं। इसी भाँति मानसिक शरीरमें काम है, यह क्रोध और लोभका नेता है। [वायुकी प्रकृति शीतल है, वैसे ही कामकी प्रवृत्ति भी प्रीत्यात्मक होती है। (सि० ति०)] (ख) *'कफ लोभ अपारा'*—कफको अपार कहा, क्योंकि उसका पार देहीको नहीं लगता, अन्तमें कफ ही प्राण वियोगका हेतु होता है, मरणासन्न अवस्थामें कफ घेर लेता है। फिर उसे मनुष्य नहीं उल्लङ्घन कर सकता। इसी भाँति मानसिक शरीरमें लोभ है। ब्रह्माण्डका प्रभुत्व मिल जाय तो भी यह तृप्त नहीं होता। *'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* लोभसे ही मनका पतन होता है। (ग) *'क्रोध पित्त'* क्रोधको अग्नि कहा है और पित्त भी अग्नि है। दोनों दाह उत्पन्न करते हैं, दोनोंसे शरीर जलने लगता है, भ्रम होता है, मूर्छा होती है। दोनोंके वेगमें छाती जलती रहती है। यह समानता है।

प० प० प्र०—काम, लोभ, क्रोधको वात, कफ और पित्तसे उपमित करनेमें कविकी आयुर्वेद विशारदत्वकी प्रतीति होती है। कामको प्रथम कहा क्योंकि यह क्रोध और लोभका जनक है, प्रेरक है, कफ और पित्त स्वयं जड़ हैं। वे वात (वायु) की प्रेरणासे ही शरीरमें कार्य करते रहते हैं। वातवश जीवको भय, लज्जा आदि कुछ नहीं रह जाते और **'कामातुराणां न भयं न लज्जा।'** कामका अर्थ इच्छा, वासना लेना भी उचित है। गर्भोपनिषद्में कफ-पित्तादिका सामान्य प्रमाण दिया गया। जैसे, कफ १ आढक (=४ प्रस्थ=४ सेर ५३ तोले ४ माशे; पित्त, १ प्रस्थ (=४ कुडव=५३ तोला ४ माशा) । कफ चिकना होता है, शीघ्र बाहर निकलता नहीं, शरीरमें गुप्त रहता है, बढ़नेपर क्षुधाको मन्द कर देता है। यही लोभके गुण लोभीमें देखे जाते हैं। कफका प्रमाण शास्त्रोंमें मिलता है पर लोभका कोई प्रमाण नहीं, सीमा नहीं; इसीसे इसे *'अपारा'* कहा—*'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* लोभ कितना दुर्जन है यह स्कन्दपु० कुमार ३। २७७—८७ तक देखिये।

पित्त जल और तेजका संयुक्त कार्य है। इच्छा (काम) का प्रतिबन्ध होनेपर उसका ही रूपान्तर क्रोधमें होता है। इच्छित वस्तु मिलनेपर इच्छाका रूपान्तर लोभमें होता है। पित्त कड़ुवा, खट्टा, तीखा होता है। उसी प्रकार क्रोधका प्रत्यक्ष प्रथम अनुभव कटु-कठोर-भाषण, *'क्रोध के परुष बचन बल'* है। तेज तत्त्वका कार्य पित्त है, इसके बढ़नेसे छातीमें जलन होती है। वैसे ही क्रोधसे छाती जलती है। यथा—*'दहै रिस छाती।'* (१। २८०। १) पित्त बढ़नेपर भी अपार नहीं, कुछ कालके अनन्तर घट जाता है, वैसे ही क्रोध भी शान्त हो जाता है।

सन्निपात=त्रिदोषोंका कुपित होना। प्रत्येक व्याधिमें सन्निपात हो सकता है। सन्निपातज व्याधि असाध्य होते हैं। (माधवनिदान देखिये) सन्निपात ज्वरके मुख्य चौदह प्रकार गिनाये गये हैं। और फिर इनमेंसे हर एकमें अनेक भेद हैं।

वि० त्रि०—*'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई—'* इति। (क) *'जौं—'* का भाव कि वात, पित्त और कफ तीनों भाई हैं, उसी शरीरमें रहते हैं; पर तीनों प्रीति नहीं करते। वे अकेले ही रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, या दो-दो मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वात-पित्त प्रधान, कफ-पित्त प्रधान, वात-कफ प्रधान होकर रोग उत्पन्न करते हैं। यदि आपसमें प्रीति करके तीनों प्रधान हो जायँ तो मनुष्य कालवश हो जाता है। इसी भाँति कोई कामी, कोई क्रोधी और कोई लोभी होता है। किसीमें काम-क्रोध दोनों बढ़ जाते हैं, किसीमें क्रोध-लोभ, किसीमें काम-लोभ हो जाता है। यदि काम-क्रोध-लोभ तीनों बढ़ें तो मानसिक शरीरका पतन अनिवार्य है। (ख) *'सन्यपात दुखदाई'*—तीनोंके प्रीति करनेपर अभिन्यास सन्निपात पैदा होता है। यह महादु:खदायी है, प्राण लेकर ही छोड़ता है। सन्निपातमें प्रलाप भी होता है। ठीक यही गति मानसिक सन्निपातकी भी है। *'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि कालबस सठ मनुजादा॥'* [विशेष *'गुनकृत सन्यपात नहिं केही।'* (७१। १) में देखिये। सन्निपातमें उचित-अनुचितका विचार, लज्जा, मर्यादा कुछ नहीं रहती।]

वि० टी०—काम-क्रोधके कुपित होनेका यह कारण प्राय: माधवनिदानसे मिलता है, जिसमें यों लिखा है—'**कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः**' अर्थात् काम, शोक और भयसे वातका प्रकोप होता है तथा क्रोधसे पित्त भड़कता है।

पं०—वात-पित्त-कफसे सन्निपात होता है, वैसे ही काम-क्रोध-लोभसे महापातकी होता है।

बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥ ३२॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥ ३३॥

शब्दार्थ—दादु (दद्रु)—एक चर्मरोग जिसमें शरीरपर उभरे हुए ऐसे चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनमें बहुत खुजली होती है। यह विशेषत: कमरके नीचे जंघेके जोड़के आसपास होती है जहाँ पसीना होकर मरता है। यह प्राय: बरसातमें गन्दे पानीके संसर्गसे होती है। दाद दो प्रकारकी होती है, एक कागजी दूसरी भैंसिया। १८ प्रकारके कोढ़ोंमें भी इसकी गिनती है। दद्रु-मण्डल लाल होता है। यथा—'**सकण्डुरागपिटिकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्।**' इति। (माधवनिदान) **कंडु** (कण्डु)=खाज, खुजली। इसमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुन्सियाँ होती हैं। इनसे स्राव भी होता है, खुजली और जलन होती है। दाद और खाजमें भेद यह है कि खाजमें छोटी फुन्सियाँ तो बहुत होती हैं पर उनका कोई मण्डल नहीं होता और दादमें मण्डल होता है। खुजलीमें दाह होता है, दादमें नहीं। यथा—'**नामतो विंशतिविधा बाह्यस्तत्र मलोद्भवाः। तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः॥ बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूकालिक्षाश्च नामतः। द्विधा ते कोठपिडिकाः कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥ सूक्ष्मा बह्व्यः पीडकाः स्राववत्यः वामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः।**' इति। (माधवनिदान) यह भी क्षुद्र कुष्ठ है, जूँ और लीख इसके भी कारण हैं। *'गरह'*—महानुभावोंने *'गरह'* के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। कोई तो इसे घेघा कहते हैं। यह गलेका रोग है जिसमें गलेमें सूजन होकर बतौड़ा-सा निकल आता है। कोई कंठमाला, गंडमाला वा गलगंड कहते हैं। इस रोगमें गलेमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुड़ियाँ लगातार मालाकी तरह एक पंक्तिमें निकलती हैं। यह रोग भी बड़ी कठिनतासे अच्छा होता है, बहुत गहरायीतक जाता है। माधवनिदानमें लिखा है कि दूषित वात-कफके गलेके इकट्ठा होनेसे सूजन होकर यह रोग उत्पन्न हो जाता है—'**वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्येत संश्रित्य तथैव भेदः। कुर्वन्ति गंडं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तद् गलगण्डमाहुः।**' और कोई इसको ग्रहका अपभ्रंश मानते हैं और अर्थ करते हैं कि 'हर्ष-विषाद ग्रहोंकी अधिकता है।' कोई (रा० प्र०) इसका ग्रहनी (संग्रहनी) रोग अर्थ करते हैं। पंजाबीजी 'गठिया वात' अर्थ लिखते हैं और कण्डुका अर्थ रघुरक रोग करते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि *'गरह'* गलेका नाश करनेवाला घेघा रोग है। यह शोथरोगोंमें है। कफ, वात इसका मूल है। पानीके विकारसे उत्पन्न होता है, गला बढ़कर लटक पड़ता है, भीतर नसें पिराती हैं। यहाँ रोगोंका साङ्गरूपक है। इससे अधिक लोग *'गरह'* से 'गलेका रोग' अर्थ करते हैं। और कहते हैं कि ग्रह अर्थ सङ्गत नहीं जान पड़ता, क्योंकि नवग्रहसे यहाँ प्रयोजन नहीं। हिन्दी शब्दसागरमें इसका अर्थ 'ग्रह' किया गया है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि वैद्यकमें

देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, राक्षसादि बहुत-से ग्रह कहे गये हैं। यथा—'**देवग्रहाः पौर्णामास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ।**' इत्यादि। (माधवनिदान) ये उन्माद उत्पन्न करते हैं। किसी ग्रहमें मनुष्य हर्षित होता है और किसीमें विषादयुक्त, पर है उन्माद ही। (वि० त्रि०)

उन्मादका वर्णन इस प्रकार है—'**विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।**' इसमें देव, गुरु और द्विजोंका अपमान करनेसे जो उन्माद-रोग होता है उसमें प्रत्यक्ष कारण सूर्यादि नवग्रह नहीं बल्कि देवताग्रह, असुरग्रह, गन्धर्वग्रह, यक्षग्रह, पितृग्रह, सर्पग्रह, राक्षसग्रह, पिशाचग्रह और भूतग्रह—ये नौ प्रकारके ग्रह (ग्रहण करनेवाले, पकड़नेवाले) हैं, जो उस मानव जीवको लगते हैं, वे ही '*गरह*' हैं। माधवनिदान उन्मादनिदान (श्लोक १७ से २५) तक देखिये। इनके अतिरिक्त बालग्रह भी हैं, इनकी संख्या भी नौ है। उन्मादरोगका सामान्य लक्षण माधवनिदानमें ये हैं—'**धीर्विभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्यं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्।**' ये सब लक्षण हर्ष-विषादमें देखे जाते हैं। (प० प० प्र०) '**बहुताई**'=गहराई, यथा—'*चितव कृपाल सिंधु बहुताई।*' (६। ४। ३)=बहुतायत।

अर्थ—अनेक प्रकारके कठिनतासे प्राप्त होनेवाले विषयोंके जो मनोरथ हैं वे ही सब प्रकारके शूल हैं जिनके नाम कौन जानता है॥ ३२॥ ममता दाद है, ईर्ष्या (उस दादमेंकी) खाज है, हर्ष और विषाद गहरा गलेका रोग वा ग्रहोंकी बहुतायत है॥ ३३॥

वै०—'*बिषय मनोरथ*……।' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियोंके विषय हैं। इनकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके मनोरथ हृदयमें उठा करते हैं। दुर्गम—जिनकी प्राप्ति कठिन है जैसे नृत्य राग, षट्रस दिव्य भोजन, भूषण, वसन, शय्या इत्यादि मनोरथ प्रत्यङ्ग शूलपीड़ा है।—[जिस इन्द्रियके विषयका जो मनोरथ है वह उसी इन्द्रियका शूल है। जैसे रूप विषयका मनोरथ हुआ तो उसे नेत्र इन्द्रियका शूल समझना चाहिये; इत्यादि प्रकार औरोंके भी समझ लें]

वि० त्रि०—'*दुर्गम नाना*'—यद्यपि विषय पाँच माने गये हैं, एक-एकके सहस्रों भेद हैं। विषयभेदसे मनोरथके भी असंख्य भेद हो गये हैं। दुर्गमसे जनाया कि विषयकी प्राप्तिसे सन्तोष नहीं होता, तृप्ति होती नहीं, चाह बढ़ती जाती है, बाधाओंकी कमी नहीं रहती। '*ते सब सूल*'—भाव कि एक भी मनोरथ सुखदाई नहीं है। मनोरथ ही दुःखरूपमें परिणत हो जाता है। यद्यपि वातकृत शूल, पित्तकृत शूल, कफकृत शूलके पृथक्-पृथक् लक्षण हैं, पर सबोंका प्रभु वात ही है। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें भी कामकृत मनोरथ, लोभकृत मनोरथ, क्रोधकृत मनोरथ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी सबका मनोरथ काम ही है। '*नाम को जाना*'—भाव कि संख्या इतनी अधिक है कि इनके पृथक् न तो कोई नाम रख सका और न कोई स्मरण ही कर सकता है। जब नाम नहीं तब कोई जान कैसे सके?

नोट—'*ममता दादु*'—ममताको दाद कहा, क्योंकि जैसे दाद खुजलानेमें बहुत प्रिय लगता है, उससे बड़ा सुख मिलता है, जितना ही खुजलाया जाय उतनी ही खुजलानेकी इच्छा बढ़ती है, पर पीछे बड़ा कष्ट होता है; वैसे ही किसीपर ममत्व हुआ तो वह पहले प्रिय लगता है। ममताके संघर्षमें बड़ा सुख मिलता है और बढ़ता ही जाता है। पर अंतमें बड़ा कष्ट होता है। दाद शरीरमें होती है वैसे ही शरीरसे उत्पन्न बाल-बच्चों तथा सम्बन्धियोंमें ममत्व होता है। जैसे ही ये बाल-बच्चे, सम्बन्धी अथवा प्रिय पदार्थ किसी योगसे जाता रहता है वैसे ही अनेक दुःख होता है। इत्यादि (करु० वि० त्रि०)। दादमें लालिमा और मण्डलाकार वृद्धि होती है, ममतामें रजोगुण लालिमा है। ममताका मण्डल माता, पिता, वस्त्र, पात्रादि, धन, स्त्री, पुत्र, कन्या आदि है, जो बढ़ता ही जाता है। (प० प० प्र०)

रा० शं०—विषयमनोरथको शूल कहा क्योंकि प्रथम तो मिलनेकी चिन्ता, फिर उपायमें दुःख और न प्राप्त होनेपर शोक होता है।

वै०—'*ममता दादु।*' दाद त्वचारोग है, विकार खून इसका मूल है, भीगे वस्त्रका संग्रह पाकर देहकी गर्मीसे अंकुरित होता है। मानसमें '*ममता*' रोग देहसम्बन्धमें है, प्रणय इसका मूल है अर्थात् अपना मान

लेना स्नेहसंग्रहचित्तचाह बढ़नेसे समीपता प्रिय लगती है, उस प्रिय वस्तुकी हानि वियोगसे दुःख होता है। *'कंडु इरषाई'*—खाज भी त्वचारोग है, रक्तविकार मूल है, यह रोगीके संग्रहसे अंकुरित होता है। (छूतकी बीमारी है) ईर्ष्या भी कुसंगद्वारा कुटिल स्वभाव होनेपर थोड़े ही कारणसे मनमें होने लगती है, इसका खेद बराबर मनमें बना रहता है, यही खाजका खुजलाना है।

वि० त्रि०—*'कंडु इरषाई'* इति। दूसरेका उत्कर्ष न सह सकना ईर्ष्या है। यथा—*'देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'* (२। १२। ६)*'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी॥'* (१। १३६। ७) ईर्ष्याके विषयोंमें कमी नहीं, इसीसे छोटी-छोटी फुंसियोंकी भाँति मानसिक शरीरमें विकार होता है और उन विकृत स्थलोंसे मलस्राव होता है। ममतावाली वस्तुएँ अपने गोल (मण्डल) की हैं, ईर्ष्यावाली नहीं हैं, इसलिये ईर्ष्यामें मण्डल नहीं होता। ईर्ष्यामें दाह होना स्वाभाविक है। इसलिये ईर्ष्याको कण्डु कहा।

'हरष बिषाद गरह......' इति। इष्टप्राप्ति या इष्टप्राप्तिकी आशासे हर्ष और इष्टके वियोग तथा वियोगके भयसे विषाद होता है। हर्ष-विषाद भी मनोविकार-विशेष हैं। इनमें मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। इसलिये इनकी उपमा ग्रहकी बहुताईसे दी गयी है। जिस प्रकार उन्मादमें मनुष्य ग्रहोंकी प्रकृतिके अनुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट चेष्टाएँ करता है पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टा ही हैं; इसी भाँति उत्तम, मध्यम, अधम इष्टानुसार हर्ष-विषादकी अनेक चेष्टाएँ होती हैं, पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टाकी भाँति परिणाममें दुःख देनेवाली हैं। इसीलिये हर्ष-विषादको ग्रहकी बहुतायत कहा। हर्ष (कामनाकी पूर्त्तिसे) विषाद (वाञ्छितकी हानिसे)।

परसुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥ ३४॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ*। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥ ३५॥

अर्थ—पराया सुख देख जो जलन होती है, वह क्षयी रोग है। दुष्टता और मनकी कुटिलता कुष्ठ (कोढ़) रोग हैं॥ ३४॥ अहङ्कार अत्यन्त दुःखद डमरुआ रोग है और दंभ, कपट, मद, मान नेहरुआ रोग है॥ ३५॥

शब्दार्थ—*'छई'* (क्षयी)—यह एक प्रसिद्ध राजरोग है जिसमें रोगीका फेफड़ा सड़ जाता है और सारा शरीर धीरे-धीरे गलता जाता है। इसमें रोगीका शरीर गर्म रहता है, ज्वर सदा बना रहता है, उसे खाँसी आती है और उसके मुँहसे बदबूदार कफ निकलता है, जिसमें रक्तका भी कुछ अंश रहता है। धीरे-धीरे रक्तकी मात्रा बढ़ती जाती है। वेगावरोध, धातुक्षय, दुःसाहस, विष-भक्षण, बहुत अधिक वा बहुत कम भोजन इत्यादिसे इसकी उत्पत्ति कही गयी है। आरम्भमें यदि चिकित्सा ठीक हो तो रोगीके बचनेकी आशा है नहीं तो यह रोग असाध्य हो जाता है। *'कुष्ट'*—यह रक्त और त्वचा-सम्बन्धी रोग है। संक्रामक (छूतसे फैलनेवाला) और पुरुषानुक्रमिक होता है। यह १८ प्रकारका कहा गया है जिसमेंसे सात प्रकारके महाकुष्ठ कहे गये हैं जो साध्य हैं [ये फूटकर बहने लगते हैं—(वै०)] और शेष ११ क्षुद्रकुष्ठ कहे गये हैं जो असाध्य हैं। [ये फूटकर बहते नहीं, त्वचामें बंद रहते हैं—(वै०)] इस रोगमें प्रथम चमड़ा लाल हो जाता है और उसमें बहुत जलन होती है। साधारणतया यह दो प्रकारका होता है, एक श्वेत दूसरा गलित, जिसमें हाथ-पैरकी अँगुलियाँ गल-गलकर गिर जाती हैं। यह रोग सब रोगोंसे विशेष घृणित है। कुष्ठीको कोई पास बैठने नहीं देता। *'डमरुआ'*—यह वातका एक रोग है जिसमें शरीरके जोड़ जकड़ जाते हैं और उनमें दर्द होता है। गठिया—यह अर्थ हिंदी शब्दसागरका है। (२) वह रोग जिसमें पेट डमरूकी नाईं फूल जाता है अर्थात् प्लीहोदर वा कछुई रोग। दाह उत्पन्न करनेवाले और पेट फुलानेवाले पदार्थोंके खानेवालोंके कफ और रक्त बिगड़कर बर्वटको बढ़ा देते हैं जिससे रोगी बहुत दुःखित रहता है। फिर पाचनशक्ति मंद पड़ जाती है, रोगी पीला पड़ जाता है। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इसे वैद्यकमें मेदरोग कहते हैं। मेद इसकी मूल है। कुपथ्यसे मेद बढ़कर पवन रोककर जठराग्निको बढ़ाती है। तब अधिक भोजनसे मेद बढ़ता है, जिससे बड़ी पीड़ासहित पेट बढ़ता जाता है और रुधिर, मांस, वीर्य्य घटता जाता है जिससे निर्बलता और दुर्बलता होती जाती है।' श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि काशीके एक प्रसिद्ध अनुभवी वृद्ध वैद्य पं० भगवतीप्रसाद मिश्रजीका

* हकरुआ—(का०)। डहरुआ—(पाठान्तर)।

मत है कि डमरुआ गलगण्ड रोग है। **'निबद्धश्श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले'** यह गलगण्डका लक्षण है। बँधा हुआ शोथ जो गलेमें मुष्ककी भाँति लटकता है, उसे गलगण्ड कहते हैं। मुष्कका सादृश्य डमरूसे है, उसकी भाँति होनेसे इस रोगको डमरुआ कहे जानेकी बहुत सम्भावना है। लक्षण भी मिलता है। गलगण्डके रोगीको सुई चुभानेकी भाँति पीड़ा होती है, उसका रूप अभिमानी-सा हो जाता है। उसको देखनेसे लोगोंको चिढ़-सी मालूम होती है। रोग बढ़ जानेसे श्वास लेनेमें पीड़ा होती है। इसलिये अहङ्कारको डमरुआ कहा।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि जो अनेक अर्थ ऊपर दिये गये हैं उनमें और अहङ्कारमें कोई साम्य नहीं देख पड़नेपर मेरे विचारमें कैन्सर (Cancer) ही अर्थ आया। इसका आधार भी स्वर्गीय डॉ० श्री० म० वैद्य एल० एम० एस० के माधवनिदान-ग्रन्थमें मिल गया। अर्बुदरोग-निदान-प्रकरणमें अङ्ग्रेजीमें समास (Margin) में Cancer और उसके विविध भेदोंके नाम मिले। अर्बुदके लक्षण पढ़नेपर निश्चय हो गया कि कैन्सरहीको डमरुआ कहा है। वह अर्बुदरोग ही है। अहङ्कारके सभी लक्षणोंका पूर्ण साम्य इनमें मिलता है। शरीरके किसी भागमें, प्रकुपित वातादि दोष मांस या रक्तको दूषित करके गोल, स्थिर, बढ़नेवाला, जिसके मूल बहुत गहरे हड्डीतक भी होते हैं, बहुत काल धीरे-धीरे बढ़नेवाला, न पकनेवाला बहुत गहरे भागमें जिसकी उत्पत्ति होती है—ऐसा मांसका एक पिंड पैदा करते हैं; इसीको अर्बुद कहते हैं। अर्बुद-निदान, यथा—**'गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्छिता मांसमसृक्प्रदूष्य। वृत्तं स्थिरं मन्दरजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृध्वपाकम्॥ १८॥ कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।'**

४ नहरुआ—यह रोग प्रायः कमरके निचले भागमें होता है। पानीके साथ एक विशेष प्रकारके कीड़ेके शरीरमें प्रविष्ट हो जानेके कारण यह रोग होता है। इसमें पहले किसी स्थानपर सूजन होती है [विकारी जल पीनेसे पवन कोपकर हाथ-पैरमें सूजन, फुंसी पैदा करता है जिसके फूटनेपर] फिर छोटा-सा घाव होता है और तब उस घावमेंसे डोरीकी तरहका कोड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है जो प्रायः गजों लंबा होता है। इस रोगसे कभी-कभी पैर आदि बेकाम हो जाते हैं। यह कीड़ा सफेद रंगका होता है। [धीरे-धीरे इसे निकालते जायँ तो कुछ दिनोंमें यह डोरी-सरीखी नस निकल जाती है—(वै०)। यदि यह काट दिया गया या टूट गया तो इस घावमें बड़ी जलन होती है और यह कीड़ा फिर दूसरी जगहसे निकलता है। वैद्यकमें इसे **'स्नायुज'** कहते हैं। इसकी क्रिया विसर्प रोगकी-सी है। मालवा और राजपूतानामें यह रोग बहुत सुना जाता है। प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि यह रोग मुख, पेट और जिह्वामें भी देखा गया है। मराठीमें इसको **'नारू'** कहते हैं। एलोपैथी (Alopathy) में इसकी चिकित्सा नहीं है। महाराष्ट्रमें इसकी अनेक ओषधियाँ हैं। पर एक ही दवासे सबका काम नहीं होता। अतः इनमें भी कफ, वात, पित्त दोषज भेद होने चाहिये।

नोट—१ दूसरेको सुखी देख जो जलते हैं उनका हृदय सदा दग्ध रहता है, वे दिनोंदिन भीतर-ही-भीतर घुलते जाते हैं, शरीर सूखता जाता है। (ऐसे मनुष्योंको समझना चाहिये कि बड़े दुःखमें फँस गया, क्योंकि यह तो संसार है, किसीको सुख किसीको दुःख बना ही रहता है, इसलिये ऐसा कोई समय ही नहीं हो सकता जब कि उसे जलन न रहे। इस जलनसे उसके सद्गुणोंकी दिन-रात हानि होनी आरम्भ हो जाती है और अन्तमें सभी सद्गुणोंसे रहित हो जानेपर उसका घोर पतन हो जाता है। (वि० त्रि०) यही हाल क्षयीरोगका है। अतः इसको क्षयी कहा। *'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥'*—(३९। ३) देखिये। क्षयी छः प्रकारकी होती है। शत्रु भी छः ही माने गये हैं। इसलिये क्षयीका छः प्रकार होना युक्तियुक्त है। (वि० त्रि०) कुष्ठ दो प्रकारका प्रसिद्ध है—श्वेत और गलित अथवा साध्य और असाध्य, या महाकुष्ठ और क्षुद्र। अतः दुष्टता और मनकी कुटिलता दोको कुष्ठ कहा। (प्र० सं०) मनका दोषयुक्त होकर सरलताका त्याग करना अर्थात् मनमें दूसरी बात और वाणी तथा कर्मसे दूसरी बात प्रकाशित करना कुटिलता है। कुटिलता दुर्नाम हो जाता है, कोई उसके साथ व्यवहार नहीं चाहता, उसका पतन बड़े दुःख और दुर्नामके साथ होता है। (वि० त्रि०)

वै०—(फूटकर बहनेवाला) महाकुष्ठ मानसका (वचन-कर्मसे सबकी बुराई करनारूपी) दुष्टता रोग है और तुच्छ कुष्ठ मानसका कुटिलता रोग है जिसमें मनुष्य बूँदी ढकी बुराई करते हैं, प्रत्यक्षमें नहीं

करते। इसका भी कुसङ्ग ही कारण है पर यह स्वभाव पूर्वज है, इससे विशेष असाध्य है।

वि० त्रि०—अहङ्कारसे बड़ा दुःख होता है। उसका रूप बेढङ्गा हो जाता है। उसकी सकल देखनेसे लोगोंको चिढ़ होती है। रोग बढ़ जानेसे प्रत्येक व्यवहारमें उसे बड़े-बड़े कष्ट होते हैं। विशेष शब्दार्थमें देखिये।

वि० टी०—अहङ्कारके मारे लोग फूले-फूले फिरते हैं। इसी प्रकार कछुई रोगके कारण पेटमें कछुईकी नाईं कड़ा पदार्थ बन जानेसे पेट फूला और बड़ा रहता है तथा मनुष्य दुर्बल और अशक्त हो जाता है।

वै०—अहङ्कारको डमरुआ कहा क्योंकि इसमें मानापमानादि पीड़ा लिये हुए धन-विद्यादि कुपथ्य पाकर अहङ्काररूप भेद बढ़ता है जिससे अहंममकार पेट सूजता जाता और ज्ञान-विचारादिका नाश होता है और अज्ञान-दुर्बलता बढ़ती है। *'दंभ कपट मद मान'* नहरुआ हैं। ये लाभ मान्यता इत्यादिसे उत्पन्न होते हैं। मान सूजन, मद फुन्सी, दम्भ फूटना, कपट नसका निकलना है। कपटका खुलना नसका टूटना है।

वि० त्रि०—*'दंभ कपट——'* इति। ढकोसला, छल, गर्मी, ऐंठ ये सब परस्पर सम्बद्ध होकर एक सूत्रमें परिणत हो जाते हैं। रोगीकी प्रगतिसे इनका प्रकाश हो जाता है। ये बढ़ते ही जाते हैं, बड़े यत्नसे इनकी रक्षा करनी पड़ती है, यदि भङ्ग हुआ तो बड़ा भारी दुःख होता है। नहरुआमें भी घावमेंसे अनेक कीट एकत्रित होकर सूत्राकारमें बाहर निकलते और बढ़ते जाते हैं, बड़े यत्नसे उस सूत्रकी रक्षा की जाती है, इत्यादि। अतः दम्भादिको नहरुआ कहा।

प० प० प्र०—दम्भ त्रिदोषजन्य नहरुआ है, क्योंकि मानकी इच्छासे कपटके आधारपर मदसंयुक्त ही दम्भ किया जाता है। जहाँ मानकी इच्छा न हो और न कपट है वहाँ दम्भ न मिलेगा। मद वातज नहरुआ और कपट कफज नहरुआ है। मान पित्तज नहरुआ है। अपमान होनेसे क्रोधरूपी पित्त बढ़ता है। महाराष्ट्रमें नारू रोगको सभी जानते हैं। जैसे नहरुआ रोग बहुत कालतक शरीरमें गुप्त रहता है, वैसे ही दम्भादि गुप्त रहते हैं पर एक दिन जब वह 'ताँत' के समान बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है तब रोगीको जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। वैसे ही दम्भके भी *'उघरहिं अंत न होइ निबाहू।'*

तृष्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी॥ ३६॥

जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥ ३७॥

शब्दार्थ—**उदर वृद्धि**=जलंधर। वात इसका मूल है। मन्दाग्निमें कुपथ्य करनेसे उत्पन्न होता है। वात बढ़नेसे वातोदर, जल बढ़नेसे जलोदर और कफ बढ़नेसे कफोदर इत्यादि आठ भेद हैं। बिना पीड़ा पेट बढ़ जाता, देह इतनी दुर्बल हो जाती है कि उठनेकी शक्ति वा गति नहीं रह जाती। (वै०) **तृष्ना**=विषय-प्राप्तिकी प्यास। **ईषना (एषण)**=अभिलाषा—विशेष *'सुत बित लोक ईषना तीनी।'* (७१। ६) में देखिये।

अर्थ—तृष्णा अत्यन्त भारी जलंधर (जलोदर) रोग है। सुत, वित्त और नारि—ये तीनों प्रकारकी इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं॥ ३६॥ मत्सर और अविवेक दो प्रकारके ज्वर हैं। ये कुत्सित रोग तो अगणित हैं, इन्हें कहाँतक कहूँ? (अर्थात् समझनेके लिये इतना बहुत है। दिग्दर्शनके लिये कुछ रोगोंका परिचय दे दिया; अब बस करता हूँ। इस वचनसे मानस रोगोंको असंख्य जनाया)॥ ३७॥

नोट—१ *'तृष्ना उदर बृद्धि——'* इति। (क) तृष्णासे पेट कभी नहीं भरता, पेट भर जाय, संतोष हो जाय तो तृष्णा ही कहाँ? यह तो दिनों-दिन ही नहीं किंतु क्षण-क्षण अधिकाधिक होती जाती है, मृतशय्यापर भी पड़े हुए कम नहीं होती, कभी भी पूरी नहीं होती। वस्तु मिलनेकी चाह बढ़ती ही जाती है*, अतः *'अति भारी'* कहा—विशेष *'तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा।'* (७०। ८) देखिये। इसी प्रकार जिसे उदर रोग हुआ उसका उदर दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है, अति वृद्ध होनेपर वह मर जाता है। (ख) *'त्रिबिध ईषना*

* 'त्वामुदरं साधुमन्ये शाकैरपि यदसि लब्धिपरितोषम्। हतहृदयं ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः पुनः॥' १॥ 'इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्। कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि चक्रवर्तित्वम्॥ चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्तुम्॥ सुरराजोऽप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा।'

तरुन तिजारी' इति। तीसरे दिन आनेवाले ज्वरको तिजरा वा तिजारी कहते हैं। ज्वरसे उठे हुए कृश वा मिथ्याहार-विहार करनेवाले मनुष्यका रहा-सहा शेष दोष जब वायुद्वारा वृद्धिको प्राप्त होकर आमाशय, हृदय, कंठ, सिर और संधि इन पाँच कफ स्थानोंका आश्रय लेता है तब उससे अँतरा, तिजरा और चौथिया विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं। **तरुन**=जवान, नया। जो ज्वर अपने प्रारम्भसे सात दिनका हो जाता है उसे तरुण ज्वर कहते हैं। *'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥'* (७१। ६) में पूर्व कहा है कि एषण सबकी मतिको मलिन कर देता है, अतः जिस तिजारीसे वह मलिनता उत्पन्न हो जाय वही यहाँ *'तरुन तिजारी'* होगी। एषण तीन प्रकारका है, अतः उसे तिजारी कहा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि स्त्री-पुत्र-धन आदिकी नित्य नयी चाह होनेसे उसको तरुण तिजारी कहा क्योंकि यह भी नित्य नवीन ही रहती है। तीसरे दिन नवीन होकर आती है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'शुरू-शुरूमें जब तिजारी आती है तो बड़े वेगसे बड़ा जाड़ा देकर आती है, पीछे उसका वेग क्रमशः कम होने लगता है। इसलिये तरुण तिजारी कहा। तिजारी जल्दी छूटती नहीं, एक दिन अन्तर देकर आती है। इसके तीन भेद शास्त्रकारोंने माने हैं। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें एषणा बड़े वेगसे आती है और बड़ी जड़ता उत्पन्न करती है। इसका छूटना महा कठिन है। बीच-बीचमें शान्त भी हो जाती है, पर फिर आ जाती है।

वै०—*'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।'* द्वन्द्वज्वर। इसका मूल अजीर्ण है। अजीर्णपर भोजन करनेसे वात-पित्त कोप करते हैं जिससे ज्वर उपजता है। मानसमें मत्सर (परायी भलाई न देख सकना) और अविवेक द्वन्द्व ज्वर हैं। [*'कुरोग'* अर्थात् असाध्य, *'एहि कुरोग कर औषध नाहीं'*, *'ए असाध्य बहु रोग।'* जिसकी दवा न हो सके]

नोट—२ दो प्रकारके ज्वर कौन हैं, इसमें मतभेद है। कोई माहेश्वर और वैष्णव ज्वर कहते हैं। यह ज्वर बाणासुरसंग्रामके समय शिवजी और कृष्णजीने उत्पन्न किये थे। माहेश्वर ज्वरके आठ भेद हैं—वातज, पित्तज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपात और आगन्तुज। वैष्णवज्वरके पाँच भेद हैं—सतत, संतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चतुर्थक। इन्हें विषम ज्वर कहते हैं। वैष्णव ज्वर माहेश्वर ज्वरसे बली है। यह धातुगत होता है। दूसरी कथा यह है कि दक्षयज्ञ-विध्वंसके लिये शिवजीने माहेश्वर ज्वर उत्पन्न किया था। (ख) कोई विपर्यय और आगन्तुक ज्वरसे यहाँ तात्पर्य मानते हैं, क्योंकि विषम ज्वर ऊपर तिजारीमें आ गया है, और (ग) कोई (करु०, पां०, आदि) इससे द्वन्द्वज्वरका अर्थ करते हैं क्योंकि *'जुग'* का अर्थ है दो। वात, पित्त और कफ इनमेंसे दो-दोके मेलसे जो ज्वर उत्पन्न हों वे *'जुग बिधि'* वा द्वन्द्वज्वर हुए जैसे कि वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज। जो एक ही विकारसे उत्पन्न हों अर्थात् वातज, पित्तज और कफज, उनकी पृथग्ज्वर संज्ञा है—**'ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः'** (सुश्रुत)। अर्थात् ज्वर आठ प्रकारका है, पृथक्, द्वन्द्व, संघात और आगन्तुज। अतः जुग विधिसे 'पृथक्' और 'द्वन्द्व' दो प्रकारके ज्वरोंको भी ले सकते हैं। तीसरा वह है जिसमें वात-पित्त-कफ तीनोंका मेल हो जाता है जिसे ऊपर कह चुके हैं—*'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्यपात दुखदाई॥'* तथा (घ)—कोई दाहज्वर और कम्पज्वर अर्थ करते हैं।

रा० प्र०—कार कहते हैं कि रौद्र और वैष्णव ज्वर आँतोंतकमें जाड़ा उत्पन्न कर देते हैं। पंजाबीजी *'जुग बिधि'* से शीतज्वर और उष्णज्वरका अर्थ करते हैं।

रा० शं०—मत्सर विषम ज्वर है और अविवेक शीतज्वर। शीतज्वर अन्तका ज्वर है, मरणके समय होता है। अविवेक भी आत्माको नष्ट करनेवाला है।

वि० त्रि०—*'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका'* इति। जिस भाँति स्थूल शरीरमें ज्वर और विषम ज्वर होता है। उसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें अविवेक और मात्सर्य है। जैसे ज्वर **'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली'** है, वैसे ही अविवेकसे भी देहेन्द्रिय-मनको ताप पहुँचता है। पर मत्सर स्वभावगत होकर संतत ताप पहुँचाया करता है, इससे इसकी उपमा विषमज्वरसे दी गयी। इसी भाँति यदि विचार किया जाय तो सम्पूर्ण भेदोपभेद अवान्तर भेदोंके साथ जिस भाँति शारीरिक ज्वरका विस्तार वैद्यक शास्त्रमें है वैसे ही विस्तारके साथ मानसिक ज्वरोंके भेद कहे जा सकते हैं।

दो०—एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि* बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि॥ १२१ (क)॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह† नहिं रोग जाहिं हरिजान॥ १२१ (ख)॥

अर्थ—एक ही रोगके वश होकर मनुष्य मर जाता है और ये तो असाध्य बहुत-से रोग हैं जो निरन्तर जीवको पीड़ित करते रहते हैं तब वह भला कैसे समाधिको प्राप्त हो सकता है? अर्थात् मानसरोगोंके कारण मन एकाग्र होकर प्रभुमें नहीं लग सकता और समाधि-दशा न प्राप्त होनेसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हे श्रीगरुड़जी! फिर नियम, धर्म, सदाचारके अनुकूल बर्ताव, तप, ज्ञान, यज्ञ जप और दान इत्यादि करोड़ों औषधियाँ भी (इनके लिये कही गयी) हैं पर रोग नहीं जाते॥ १२१॥

नोट—'*एक ब्याधि बस असाधि—*' इति। (क) रोग तीन प्रकारके माने गये हैं—सुख-साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य। इनमेंसे असाध्य वे हैं जिनमें वैद्य जवाब दे देते हैं, वे कभी अच्छे नहीं होते, शरीरके साथ ही जाते हैं। (प्र० सं०) मनुष्य तभीतक जीता है जबतक व्याधिके वशमें नहीं आ गया। इसलिये सुसाध्य व्याधिको भी छोटी न माननेके लिये आदेश है। यथा—'*रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि॥*' (३। २१) इसी भाँति एक भी मानस-व्याधि उपेक्षणीय नहीं है। एक मानसिक रोग भी प्रमादके लिये यथेष्ट है, क्योंकि सच्ची मृत्यु तो प्रमाद ही है। (ख) यहाँतक मोह, काम, क्रोध, लोभ, नाना दुर्गम विषय, मनोरथ, ममता, ईर्ष्या, हर्षविषाद, परसुख देखकर जलन, दुष्टता और मनकी कुटिलता, अहंकार, दम्भ, कपट, पाखण्ड, तृष्णा, त्रिविध एषण, मत्सर, अविवेक ये कुरोग गिनाये। इन सबको असाध्य बताया। (ग) '*ए असाधि बहु ब्याधि*' कहकर जनाया कि शारीरिक तो एक-दो ही रोग मनुष्यको हो सकते हैं पर ये मानस-रोग तो सब-के-सब प्रत्येक मनुष्यके हैं। जो उपक्रममें कहा कि—'*जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥*' (१२१। २८) वही यहाँ उपसंहारमें कहते हैं। (घ) '*पीड़हिं संतत*'—रोग असाध्य हैं, अतः वे सदा बने रहते हैं कभी भी जीव निरुज नहीं हो सकता, इसीसे कभी भी रोग-जनित पीड़ा दूर नहीं होती, निरन्तर इनसे पीड़ित ही रहता है। (ङ) '*किमि लहइ समाधि*' अर्थात् ईश्वर-स्मरण-सुख कैसे प्राप्त हो सके। (पां०) समाधि अष्टाङ्गयोगकी अन्तिम अवस्था है। उसके लिये मन थिर होना चाहिये पर मन रोगी है अतः वह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। [करु०—यहाँ समाधिसे स्वस्वरूप-परस्वरूप समाधि जानो।] समाधि—४२ (८) देखिये। असाध्यरोगोंकी भी तो दवा होती है, वे दवा क्यों नहीं करते उसपर कहते हैं कि दवाएँ हैं, लोग करते भी हैं, पर रोग जाते नहीं।

वि० त्रि०—(क) '*नेम धर्म—*' इति। ये सब मानसिक रोगोंके औषध हैं। शौचसे स्वाङ्गजुगुप्सा और दूसरोंसे असंसर्ग, सन्तोषसे अनुत्तम सुखलाभ, तपसे अशुद्धिका क्षय, स्वाध्यायसे इष्टदेवका दर्शन, ईश्वर-प्रेमसे समाधिकी सिद्धि, धर्मसे अभ्युदय निःश्रेयस, आचारसे अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानसे मोक्ष, यज्ञसे स्वर्ग, जपसे सिद्धि और दानसे दुर्गतिका नाश होता है। (ख) '*भेषज पुनि कोटिन्ह*'—अर्थात् इतने ही औषध नहीं हैं किन्तु सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, तन्त्र, दर्शन सब इन्हीं औषधोंसे भरे पड़े हैं। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सबका ध्येय है। (ग) '*हरिजान*'—भाव कि आप साक्षात् हरिके यान हैं, आपको स्वयं यह रोग हो गया तब औरोंकी गणना ही क्या है? (घ) '*नहिं रोग जाहिं*' अर्थात् निर्मूल नहीं होते, दब जाते हैं, फिर उमड़ आते हैं। अतः वे ओषधि अकिंचित्कर हैं।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥ १॥
मानसरोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए॥ २॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन-परितापी॥ ३॥

* असाध्य—(का०)। † कोटिक नहीं—(का०)।

अर्थ—(जैसा ऊपर कह आये) इस प्रकार संसारके समस्त प्राणी रोगी हैं। शोक-हर्ष, भय-प्रीति (आदि द्वन्द्वोंके वश) वियोगी (दुःखी) हो रहे हैं*॥ १॥ मैंने कुछ थोड़ेसे मानसरोग वर्णन किये हैं। ये रोग हैं तो सबको ही पर बिरले ही मनुष्य इनको लख पाये एवं पाते हैं॥ २॥ प्राणियोंको विशेष ताप देनेवाले ये पापी जान लेनेसे कुछ कम हो जाते हैं पर नाशको नहीं प्राप्त होते॥ ३॥

नोट—१ (क) *'सुनहु तात अब मानसरोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥'* (१२१। २८) उपक्रम है और *'मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के॥'* (१२२। २) उपसंहार है। इसके बीचमें ***'कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका'*** तक १८ चरणोंमें रोगोंके नाम दिये गये। (ख) *'सकल जीव'* का भाव कि मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि सभी जीव। भेद इतना ही है कि मनुष्य-शरीर तो इन रोगोंकी चिकित्साके लिये मिला है, पर अन्य जीव रोगकी चिकित्साका यत्न भी नहीं कर सकते। (ग) ***'हरष सोक—'*** भाव कि इस दुर्दशामें भी एकरसता नहीं, कभी हर्षसे उछल पड़ता है, कभी शोकागारमें डूब जाता है, कभी भयभीत हो उठता है, कभी प्रेममें आ जाता है और कभी वियोगमें हाय-हाय करता है। यथा—***'दीनबंधु, सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई। सुनहु नाथ! मनु जरत त्रिबिध ज्वर, करत फिरत बौराई॥ कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ हठ बियोग-बस होई। कबहुँ मोह-बस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥ कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी। कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरमरत ग्यानी॥ कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै। संसृति-सन्यपात दारुन दुख बिनु हरि-कृपा न नासै॥ संजम, जप तप, नेम, धरम, ब्रत, बहु भेषज-समुदाई। तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥'*** (वि० ८१) (वि० त्रि०)। (ग) ***'कछुक'*** क्योंकि ये अगणित हैं—***'ए असाध्य बहु ब्याधि'***, इनका वर्णन नहीं हो सकता—***'कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका॥'*** (१२१। ३७) (घ) ***'गाए'***—भाव कि वर्णन यद्यपि थोड़ेमें ही किया है, पर विस्तारके साथ किया है। ☞संक्षेपमें विस्तारसे वर्णन करनेकी विद्या शायद गोस्वामीजीको ही आती थी। बहुत बड़े-बड़े विषयोंको इन्होंने रूपकमें ऐसा बाँध दिया है कि विस्तृत वर्णनके साथ वे उन्हीं रूपकोंमें बँधे पड़े हैं। जितना ही उपमा-उपमेयके गुण, क्रिया, स्वभाव और सम्बन्धका विचार करते जाइये उतना ही उस विषयका विस्तार होता चला जाता है। (वि० त्रि०)

वै०—इस प्रकार सुर-नर-नागादि सभी जीव जगमें रोगी हैं। रोगमें स्वादहेतु कुपथ्य करते हैं। यहाँ लाभ कुपथ्य है, हर्ष उसका स्वाद है। रोगमें शूल होता है; यहाँ हानि होनेसे जो शोक होता है वही पीड़ा है, देहव्यवहारमें प्रीति होना रोगका बढ़ना है। प्यारेका वियोग तापादि हैं।

करु०—***'कछु छीजहिं'*** क्योंकि जाननेपर कुछ औषध करेगा।

पं०—नाश नहीं होते, जैसे वृक्ष काटे तो उसका मूल बना रहता है, जल मिलनेसे बढ़ जाता है। ☞***'हहिं सबके', 'लखि बिरलेन्ह पाये'*** और ***'रामकृपा नासहिं सब रोगा'*** के भाव विनय० १४७ वें पदसे खूब स्पष्ट हो जाते हैं—

'कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे। महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे॥
मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती । मो बिनु रहैं न मेरिये जारैं छल छाती॥
बसत हिये हित जानि मैं सब कै रुचि पाली। कियो कथिक को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥
देखी सुनी न आजुलौं अपनायत ऐसी । करहिं सबै सिर मेरेई फिरि परै अनेसी॥
बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस मों मगन हौं लीजै गहि बाँहीं॥

---

* 'सोक हरष भय प्रीति बियोगी' के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये गये हैं—१ वीर—शोक, हर्ष, भय और प्रीतिके अधीन वियोगी होकर जीव रोगी हैं। २ वि० टी०—इतनेपर भी उन्हें कभी-कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय, कभी प्रेम और कभी वियोग हो जाते हैं। ३ रा० प्र०—शोक, हर्ष, भय और प्रीति इन द्वन्द्वोंके वश लोक-परलोक तन स्वरूपसे वियोगी हैं। ४ करु०—वियोगी अर्थात् रोगमें लीन हो रहे हैं इसीसे दुःखी हो रहे हैं।

बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जायगो संकट तुलसी को॥'

इसमें न लख सकने तथा जान लेनेपर भी उनके न नाश होनेके कारण भी दे दिये हैं।

'लोभ मोह मद काम कोह रिपु फिरत रैनि दिन घेरे।
तिन्हहिं मिले मन भएउ कुपथरत फिरै तिहारेहि फेरे॥' (वि० १८७)

मानस-रोगमें ही यह विशेषता है कि रोगीको पता भी नहीं चलता कि मैं रोगी हूँ, रोगसे ही दुःखी हो रहा हूँ। वह दुःखके कारणको बाहर खोजता है।

वि० त्रि०—*'जाने ते कछु छीजहिं—'* इति। (क) भाव कि ये मित्ररूपमें आकर सद्‌गुणोंका अपहरण करते हैं, लोग इन्हें शत्रुरूपसे नहीं जानते, इसीसे इन्हें चोर भी कहा है; यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा।'* इनके स्वरूपकी पहिचान हो जानेपर चोरी कम हो जाती है, जब मनुष्य जान लेता है कि काम-क्रोधादि व्याधि हैं, तब काम-क्रोधादिके बलात् आ जानेपर भी उनपर अहितकर भावना होनेसे उनका वेग क्षीण हो जाता है, वे *'तनु अवस्था'* को प्राप्त होते हैं। (ख) *'पापी'*—जिनकी हिंसापर प्रीति है और जो जन परितापी हैं, वे *'पापी'* हैं। यथा—*'हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवन मिति।'* काम-क्रोधादिकी हिंसापर अत्यन्त प्रीति है। ये सबको पीड़ित किया करते हैं, न चाहनेपर भी जबरदस्ती पाप करा ही देते हैं। (ग) *'नास न पावहिं'*—भाव यह कि अस्मिता (अभिमान), राग (काम), द्वेष (क्रोध) और अभिनिवेशकी चार अवस्थाएँ होती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। जब चेतमें ये शक्तिमात्रसे रहते हैं अर्थात् बीजभावसे अवस्थान करते हैं तब प्रसुप्त कहलाते हैं, यथा—*'मनहु बीररस सोवत जागा।'* प्रतिपक्षभावनाके मारे हुए तनु-अवस्थाको प्राप्त होते हैं, यथा—*'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥'* गायब हो-होकर फिर-फिर प्रकट होनेको विच्छिन्न अवस्था कहते हैं; यथा *'राम बचनु सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसुकाने॥'* विषयमें लब्धवृत्तिकको उदार कहते हैं, यथा— *'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।'*—नेम, धर्म, आचार और तपसे ये विच्छिन्न हो जाते हैं, पहचाने जानेसे तनु, योगावस्थामें प्रसुप्त हो जाते हैं, पर प्रक्षीण नहीं होते। यह पाँचवीं अवस्था है। जब बीज जल जाय और विषय-वारि पानेपर भी अङ्कुरित न हो, तब उनको प्रक्षीण कहते हैं।

बिषय कुपथ्य पाय अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ ४॥
रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनै संजोगा॥ ५॥

अर्थ—विषयरूपी कुपथ्य पाकर मुनियोंके हृदयोंमें भी अंकुरित हो आते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या हैं? (भाव कि ये भी उसीमें आ गये)*॥ ४॥ श्रीरामकृपासे यदि इस प्रकारका संयोग बन जाय (जैसा आगे कहते हैं) तो सब रोग नाश हो जाते हैं॥ ५॥

रा० शं० १—प्रथम कहा *'नास न पावहिं'* अब उसका कारण बताते हैं कि रोगकी दवा है, पथ्य (परहेज) बने तो रोग जाय और यदि कुपथ्य किया जाय तो रोग कैसे जाय? २—विषयको कुपथ्य कहा क्योंकि जैसे रोगीका जी कुपथ्यकी ओर बहुत दौड़ता है, इसी प्रकार मानस-रोगीका मन—*'बिषय भोगपर प्रीति सदाई'* किये रहता है। इसीसे रोग नहीं जाते।

रा० प्र०—संयम न होनेसे रोग फिर जम आता है, जैसे पाहरू देख चोर छिपे रहते हैं और असावधान गाफिल पा फिर निकलकर अपना उद्यम करते हैं।

नोट—*'मुनिहु हृदय।'* मुनि भी नर ही हैं, पर वे अहर्निश औषध ही करते रहते हैं, इनसे बढ़कर कोई उपाय करनेवाला नहीं है; अतः इनको कहा कि जब इनके हृदयमें ये रोग इतनेपर भी अंकुरित हो आते हैं तब विषयरत इतर जन किस गिनतीमें हैं। (करु०) *'मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ'*—आ० ३८ देखो। पुनः भाव कि मुनि ज्ञाननिधान हैं। इनके ज्ञानाग्निसे क्लेश दग्धबीजसे हो

* काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

गये हैं। उनका हृदय विषयरससे रूखा होनेके कारण ऊसर-सा है, यथा—*'ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥'* (१। १२९)

२—*'अंकुरे'* का भाव कि हृदयमें थे तो पूर्वहीसे पर हृदय थलमें दम, नियम, मनन, निदिध्यासनादि सूखी मिट्टीमें दबे थे, विषय कुपथ्य जल पाकर अंकुरित हो आये। जैसे देवर्षि नारदमें ही देख लीजिये। यथा—*'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥'* *'का नर बापुरे'* अर्थात् वे तो रोगी बने-बनाये ही हैं।

३—*'नासहिं'* निश्चयवाचक वर्तमान क्रिया देकर तब *'जौं एहि भाँति बनै संजोगा'* कहनेका भाव कि रामकृपासे अवश्य सब रोग नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं। वह रामकृपा कैसी जानी जाय सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि यदि आगे जो कहनेको हैं वह संयोग बन जाय तो रामकृपा समझनी चाहिये। बिना उनकी कृपाके यह संयोग न लगेगा। यह अपने अधीन नहीं है। यथा—*'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरे।'* (वि० १०२) *'इहि भाँति'* जैसा कि आगे कहते हैं कि *'सदगुर—।'* ४—*'रामकृपा नासहिं'*, यथा—*'जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई'* इति। (विनय०) भाव कि यह केवल कृपासाध्य है। शरणागत होकर कृपाका भरोसा रखे, अपनी करनीसे बिगाड़ न दे। श्रीचरणदासजीका पद भी देखिये।—*'अब तुम करो सहाय हमारी। मनके रोग ह्वै गये दीरघ तनके बड़े बिकारी॥ तुम सों बैद और को दूसर जाहि दिखाऊँ नारी। सजीवन मूल अमरमूल हौ जासे सोहै दया तुम्हारी॥ क्रिया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावन हारी। दीजै चूरन ज्ञानभक्तिको मेटौ सकल व्यथा री॥'* (१—३) इत्यादि।

वि० त्रि०—*'रामकृपा—जौं—'* इति। (क) भाव कि रामकृपा होनेपर तीन कृपाओंकी और आवश्यकता है—(१) गुरुकृपा, सो यहाँ सद्वैद्य सद्गुरु हैं। (२) शास्त्रकृपा। वेद-पुराण पावन पर्वत हैं, इन्हींमें सञ्जीवनमूरि मिलती है, वही यहाँ औषध है। (३) आत्मकृपा—वैद्यके वचनपर विश्वास, संयम और अनुपान, ये आत्मकृपापर ही निर्भर हैं। यह सब होनेपर रामकृपाकी पात्रता आती है, नहीं तो रामकृपामें तो घाटा नहीं है, रामकृपासे ही नरदेह मिली और रामकृपाकी अनुकूल वायु बराबर चल रही है, आत्मकृपा बिना उससे कोई लाभ उठानेवाला नहीं है। देखिये, सूर्यनारायणकी कृपा बराबर होती चली जाती है पर रूईका गट्ठा न जला। सूर्यकान्तमणि और जलानेवाला दोनों एकट्ठे हों तो गट्ठा जला-जलाया ही है। इसी भाँति रामकृपा बराबर होती चली जाती है, कोई आत्मकृपावाला सूर्यकान्तमणि लेकर अक्स डालकर जलाने आवे तो ये क्लेश जले-जलाये हैं। (ख) ज्ञानमार्गमें संयोग बननेपर भी सिद्धि अनिश्चित है; यथा—*'अस संयोग ईस जौं करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥'* पर यहाँ सिद्धि अनिश्चित नहीं है, यह *'रामकृपा नासहिं'* से जना दिया।

सदगुर बैद* बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥६॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति† पूरी॥७॥

अर्थ—सद्गुरुरूपी वैद्यके वचनमें विश्वास हो। विषयोंकी आशा न करे यह संयम (परहेज, पथ्य) है॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीकी भक्ति सञ्जीवनी बूटी है, बुद्धि श्रद्धासे परिपूर्ण हो यही अनुपान है॥ ७॥

खर्रा—सदगुर=समीचीन गुरुरूप वैद्य। ['सदगुर' से जनाया कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं, सत्य ही शिष्यके हृदयके अंधकारको हरण करनेवाले हैं, *'गुर सिष बधिर अंध कर लेखा'* वाले गुरु न हों। इसी तरह पूर्व कहा है—*'करनधार सदगुर दृढ़ नावा।'* (४४। ८) बालकाण्ड गुरुवन्दनाप्रकरणमें विस्तारसे 'गुरु' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। ब्रह्मनिष्ठसे काम चल सकता है पर श्रोत्रिय न होनेसे यह संशयका नाश न कर सकेगा। ऐसा सद्गुरु मिलनेसे समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं। यथा—*'सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'* (४। १७)]

* बेद—(पाठान्तर)।

† अति रूरी—(का०)। 'मति रूरी'—(पाठान्तर)। रूरी=सुन्दर। सुंदर श्रद्धा अर्थात् शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा—(वै०)। 'वेद' पाठका अर्थ है आयुर्वेद—(रा० प्र०)।

वै०—सद्गुरु वह है जो परिपूर्ण सत्पथगामी है, शिष्यको सन्मार्गपर आरूढ़ कर देनेवाला हो। यथा—**'शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्। शुद्धाचारः सुप्रसिद्धः शुद्धिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥ आश्रमीध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रविचक्षणः। वित्तहानिग्रहे सक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥'**

नोट—१ (क) *'बचन बिस्वासा'* इति। यह अधिकारी शिष्यका लक्षण बताया। विश्वास बिना सिद्धि नहीं होती, यथा—*'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* (९०। ८) विश्वास न हो कि इससे हमारा कल्याण होगा तो गुरु करना ही व्यर्थ है। [शिष्य गुरुवचनपर विश्वास करनेवाला भवरुजार्त्त हो, यथा—**'शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणं क्षमा। समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो धनी॥ एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा।'** इति। (रामार्चनचन्द्रिका) (वै०)] (ख) *'संजम यह न बिषय कै आसा'*—गुरुके वचनपर विश्वास हो यह कहकर दूसरे चरणमें उनके वचन बताते हैं कि संयम करो। वैद्य खटाई-मिर्चा आदिसे परहेज बताता है, गुरु विषयोंसे परहेज बताते हैं। विषय खटाई इत्यादि कुपथ्य है, यथा—*'जो मन लागै रामचरन अस। देहगेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥ द्वंद्वरहित गतमान ज्ञानरत बिषय बिरत खटाई नाना कस।'* (वि० २०४) *'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।'*—संयम बन जानेसे, विषयविरत हो जानेसे काम बन जाता है। यथा—*'सुखनिधान सुजान कोसल पति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस॥'* (वि० २०४) नहीं तो साधन व्यर्थ हो जाता है। यथा— *'दसहि दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि। साधन बृथा होइँ सब मिलहिं न सारंगपानि॥'* (वि० २०३) (ग) *'रघुपति भगति······'* इति। वैद्य संजीवनी देते और उसका अनुपान बताते हैं; यहाँ गुरु श्रीरामभक्ति ओषधि देते हैं और श्रद्धारूपी अनुपानके साथ उसका सेवन बताते हैं। अर्थात् श्रद्धापूर्वक भक्ति करे। (प्र० सं०) सजीवनमूरि पावन पर्वतोंपर मिलती है, सद्वैद्य ही जानते हैं। वैसे ही सगुण ब्रह्म श्रीरामजीकी भक्ति वेद-पुराणरूपी पावन पर्वतोंपर मिलती है। सद्गुरु ही जानते हैं। रामरहस्योपनिषद्में विस्तारके साथ वर्णन है। जैसे सजीवनमूरिके सजातीय और स्वगत भेद हैं, किस रोगीपर किसका प्रयोग किया जायगा इसका निर्णय सद्वैद्य ही करता है; वैसे ही रहस्य आदि उपनिषदोंमें अनेक प्रकारके मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्रके ध्यान पृथक्-पृथक् कथित हैं, अनुष्ठान-विधि भी दी हुई है। सद्गुरु ही जानते हैं कि कौन-सा मन्त्र किस प्रकृतिके पुरुषके लिये अनुकूल होगा। (वि० त्रि०) संजीवनीके सेवनसे मरे हुए भी जी उठते हैं, रोगका दूर करना कौन बड़ी बात है। इसी तरह रघुपति-भक्ति भक्तके भवरोगको हरणकर उसको नाशरहित कर देती है—**'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'**(गीता ९। ३१) (वै०)। यहाँ पहले संयम कहा तब औषध। क्योंकि दवा लगनेके लिये संयम बहुत जरूरी है। (रा० शं०)

करु०—वेदवाक्य, गुरुवाक्य और निजानुभव इन तीनोंमें विशेष प्रतीति 'श्रद्धा' है।

वि० त्रि०—काम-क्रोधादि रोगोंसे ग्रस्त मनुष्यको मन्दाग्नि होती है। उसे नवधा भक्तिकी ओर रुचि ही नहीं होती, भक्ति चिन्तामणिकी ओर वह कब जाने लगा? अतः पहले उसे नीरोग करके उसकी अग्नि बढ़ानी चाहिये, जिसमें भोजनरूपी नवधा भक्तिका सेवन करने लगे, तब कुछ दिनोंमें संतसङ्गसे रामकथा श्रवण करते-करते उसे भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति भी हो जायगी। इस समय उसे संजीवनी भक्ति राममन्त्र दीक्षाकी आवश्यकता है। यथा—*'राममंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा॥' 'बेगि बिलंब न कीजिय लीजिय उपदेस। बीजमंत्र सोइ जपिये जो जपत महेस॥'* मन्त्रदीक्षा तथा शुभ उपदेश गुरुकृपा है, उन उपदेशोंपर विश्वास करनेसे शास्त्रकृपा होती है, नीरोग होनेके लिये तन-मन-धनसे प्रयत्न करना ही आत्मकृपा है। मन्त्र-जप करने तथा श्रीरामजीपर दृढ़ विश्वास रखनेसे रामकृपा भी हो जायगी, तब रोग नष्ट हो जायँगे।

अनुपान ही औषधके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करता है। वैसे शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धाके साथ दीक्षाग्रहण तथा अनुष्ठान करनेसे वह भक्तिके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करेगा।

प० प० प्र०—*'रघुपति भगति सजीवन मूरी'* इति। रघुपति-भक्ति तो नवधा, प्रेमा, परा आदि अनेक प्रकारकी है; इनमें यहाँ कौन-सी विवक्षित है? उत्तर—प्रकरण मानस-रोग विनाशका चल रहा है। सभी मानसरोगोंकी जड़ मोह है। *'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥', 'रामकथा सुंदर करतारी।*

संसय बिहग उड़ावनिहारी॥', 'जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अतिनेहा॥', 'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग॥' इन अवतरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ हरिकथा श्रवण-भक्ति ही विवक्षित है। प्रेम या पराका ग्रहण यहाँ अनुचित है; कारण आगे कहा है कि *'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥'* फिर *'संसृति रोग सजीवनमूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी॥'* यह एक प्रमाण पर्याप्त है। उपलक्षणासे श्रवणादिक आत्मनिवेदनपर्यन्त नव विधा भक्तिका क्रमशः ग्रहण हो सकता है।

एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥ ८॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥ ९॥

अर्थ—इस प्रकार भली प्रकार (वा भले ही) वे रोग नष्ट हो जाते हैं, नहीं तो करोड़ों (अन्य) उपायोंसे नहीं जाते॥ ८॥ हे गुसाईं! तब जानना चाहिये कि मन नीरोग हो गया जब हृदयमें वैराग्यरूपी बल बढ़े*॥ ९॥

नोट—१ (क) मानसरोगके नाशका उपाय यहाँतक चार चरणोंमें कहा। *'रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भाँति बनै संजोगा॥'* (१२२। ५) उपक्रम है और *'एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं'* उपसंहार। अर्थात् सद्गुरुवाक्यपर विश्वास करके विषयोंसे बहिर्मुख होकर श्रद्धापूर्वक श्रीरामभक्ति करे तो ही मानसरोगका नाश हो सकता है, अन्यथा नहीं। (ख) *'भलेहि'* देहली-दीपक न्यायसे रोगके साथ रहकर साधन सौकर्यका और *'नसाहीं'* के साथ रहकर निर्मूल नाशका अर्थ देगा। अन्य साधन दुष्कर हैं और उनसे रोग निर्मूल नहीं होते। (वि० त्रि०) (ग) *'नाहिं त जतन......'* से जनाया कि सद्गुरुकी दी हुई दीक्षाका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। दीक्षा पाकर ही काशीमें मुक्ति होती है; यथा—*'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥'* भक्तके सामने सदा सगुण ब्रह्मकी दिव्यातिदिव्य कल्याणमयी मूर्ति रहती है, स्थूल विषय उसे नहीं जँचते। अतः विषयद्वारा काम क्रोधका बल चल जाता है। (वि० त्रि०)

२ *'बल बिराग अधिकाई'* अर्थात् स्वर्ग-अपवर्गपर्यन्त समस्त विषयोंसे प्रबल वैराग्य हो जाय—*'तिन्ह तन चितइ न अनहित जानी'* किंचित् भी विषयवासना न रह जाय।

वि० त्रि०—१ (क) *'गोसाईं'* का भाव कि आप स्वामी हैं, आपके मनका नीरोग होना सेवकोंको इष्ट है। अतः मैं मनके नीरोग होनेकी पहचान आपको बतलाये देता हूँ। इसीसे आप अनर्थसे बच सकेंगे, नहीं तो मनके रोगी होनेका पता किसीको नहीं चलता। (ख) *'जब उर बल......'* इति। बलका बढ़ना ही रोग हटनेका असाधारण लक्षण है। शरीरका बल और हृदयका बल ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं। बड़े भारी बलवान्‌का हृदय निर्बल हो सकता है और बड़े निर्बलका हृदय सबल हो सकता है। हृदयका बल वैराग्य है। अकेले वैराग्य मोहका नाश करनेमें समर्थ है; यथा—*'प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषय बन-दहनमिव धूमकेतू।'* (वि०) *'उर अधिकाई'* का भाव कि साधारण वैराग्यके बिना तो दीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्ति ही नहीं होती, सो वह प्रारम्भिक वैराग्य स्वधर्माचरणसे होता है तब मनुष्यको भागवतधर्ममें अनुराग होता है। तब दीक्षा-प्रक्रिया चलती है। यथा—*'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥' 'तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥'* स्वधर्माचरणके बिना न ज्ञान हो सकता है न भक्ति। अतः यहाँ *'अधिकाई'* का अर्थ है कि वह प्राथमिक वैराग्य जब पुष्ट हो तब समझना चाहिये कि रोग नष्ट हो रहा है। यदि दीक्षापूर्वक अनुष्ठानसे वैराग्य नहीं बढ़ा तो समझना चाहिये कि रोग बना हुआ है।

नोट—☞ मानसरोगोंके नाशमें ज्ञान-भक्तिका मिलान—

---

* वि० टी०—नीरोगके लक्षण—'समदोषः समग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥'—(भावप्रकाश)। अर्थात् वात, पित्त और कफ—ये दोष जिसके यथास्थित हों, जिसकी जठराग्नि यथोचित हो, जिसके सप्तधातु ठीक-ठीक हों, पाचन-शक्ति उत्तम हो और जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों उसीको नीरोगी कहते हैं।

ज्ञान		भक्ति
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई	१	*नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान*
छूट न अधिक अधिक अरुझाई	२	*भेषज पुनि कोटिक नहिं रोग जाहिं हरिजान*
जीव हृदय तम मोह बिसेषी	३	*एहि बिधि सकल जीव जग रोगी……*
ग्रंथि छूटि किमि परै न देखी	४	*हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाए*
अस संयोग ईस जब करई	५	*राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं एहि……*
तबहुँ कदाचित सो निरुअरई	६	*एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं……*
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि……	७	*अनूपान श्रद्धा मति पूरी*

सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥ १०॥
बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥ ११॥

अर्थ—उत्तम बुद्धिरूपी भूख नित्य नवीन बढ़ती जाती है और विषयोंकी आशारूपी दुर्बलता जाती रही॥ १०॥ जब वह (मानसरोग-मुक्त) प्राणी निर्मल ज्ञानरूपी जलसे स्नान करेगा तब हृदयमें रामभक्ति छा रहेगी॥ ११॥

नोट—१ रोग दूर होनेपर शरीरमें बल आता है, भूख दिनोंदिन बढ़ती जाती है, शरीरकी कृशता दूर होती है, नीरोग होनेपर स्नान (गुस्ले सेहत) कराया जाता है, ये सब लक्षण इस रूपकमें क्या हैं सो बताते हैं। वैराग्य बल है, सुमति भूख है, विषयोंकी आशा शरीरकी दुर्बलता है, निर्मल विशुद्ध ज्ञान जल है इत्यादि। भाव यह कि मानसरोगके नष्ट होनेपर बुद्धि दिनोंदिन अधिक निर्मल होती जाती है, श्रीरामभक्तिसुधासुनाजकी भूख नित्य नवीन बढ़ती है जिससे विषय-वैराग्यरूपी बल बढ़ता है, जीव सारे जगत्में ब्रह्मको देखने लगता है—यह बाहरका हाल हुआ और भीतर अन्तःकरणमें श्रीरामभक्ति नस-नसमें छा रहती है। २—रघुपतिभक्तिको प्रथम संजीवनी कहा और यहाँ अब रामभक्तिका हृदयमें छा रहना कहते हैं। इससे जनाया कि रामभक्ति ही साधन है और रामभक्ति ही साध्य है। पुनः जनाया कि जो संजीवनी मूरि पहले हृदयमें गयी वह अब वृक्षरूप होकर अचल छा गयी है और उसने आगेके लिये मानसरोगोंसे अभय कर दिया है। बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि रामभक्ति संजीवनीका प्रभाव छा गया।

रा० प्र०—ज्ञान-जलसे स्नान होनेपर अर्थात् ज्ञानपरिपूर्ण होनेपर भक्तिका लाभ दिखाया।

वि० त्रि०—१ *'सुमति छुधा बाढ़ै……'* इति। रोगीके रोगविनिर्मुक्त होनेपर भूख बड़ी जोरसे लगती है, नित्यप्रति उसका भोजन बढ़ता चला जाता है और जबतक उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो जाता तबतक यही दशा रहती है। इसी भाँति संजीवनी-भक्तिद्वारा मानसिक रोगोंका नाश होनेपर सुमति बढ़ती है जिससे भजनकी ओर मन दौड़ता है, विषयसे मन हटता चला जाता है, जबतक कि मन स्थिर होकर रामचरणोंमें नहीं लग जाता। *'बिषय आस दुर्बलता गई'*—भाव कि यद्यपि विषयकी आशा तो संयमके समयसे ही छोड़ रखी थी पर वह गयी न थी, उसे हटानेके लिये प्रयत्न करना पड़ता था। अब वैराग्यबल बढ़नेसे वह आप-से-आप चली गयी।

२ *'बिमल ज्ञान जल'* इति। भाव कि मानसरोगविनिर्मुक्त होनेपर वह ज्ञानोपदेशका अधिकारी होता है। गुरुजीने उसे ज्ञानोपदेश किया। ज्ञानका कथन, श्रवण, आनन्द, पुलक यही नहाना है। यथा—*'कहहिं सुनहिं हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'*

प० प० प्र०—गर्मजलसे जिसमें कुछ वनस्पति आदि डालकर रोगमुक्तको स्नान कराते हैं यहाँ वह विवक्षित नहीं। यहाँ नदीके जलमें मज्जन अपेक्षित है। संशय, विपर्यय, स्वतोत्थान और परतोत्थान आदि मल जिसमें नहीं हैं, ऐसी जीवब्रह्मैक्य अपरोक्षानुभूति तथा **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** अनुभवकी परिपक्वावस्था है। *'देख ब्रह्म समान सब माहीं।'*

वै०—भूख लगनेसे देह पुष्ट होती है। यहाँ सुमति क्षुधा है, अर्थात् इन्द्रिय मनादिकी वृत्ति एकत्र होकर शुद्ध हो जायँ और बुद्धि राम-स्नेहमें लगे यह सुमतिरूपी क्षुधा नित्य नवीन बढ़े। श्रवण-कीर्तनादिरूप भोजन करनेमें नित्य नवीन चाह बढ़ती है, स्मरणादि-भोजन करते-करते रामप्रेमरूप पुष्टता मनमें आती है। नेत्रसे रूपदर्शन करना, रसनासे रसास्वादन करना, इत्यादि-इत्यादि; इन्द्रियविषयोंकी आशारूप दुर्बलता जो मनमें थी वह मिट गयी। आरोग्य होनेपर स्नान होता है। यहाँ अपने रूपकी पहिचान ज्ञानविमल जल है। इसमें जब मन नहायेगा तब कुमनोरथरूपी मल छूट जायगा और श्रीरामभक्ति-संजीवनीका प्रभाव उरमें छा रहेगा। प्रेमानन्द परिपूर्ण है, अतः रोग निकट नहीं आ सकता।

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार-बिसारद॥ १२॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम-पद-पंकज नेहा॥ १३॥

अर्थ—श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और श्रीनारद (आदि) जो मुनि ब्रह्मतत्त्वविचारमें परम चतुर हैं, उन सबोंका मत हे पक्षिराज! यही है कि श्रीरामपदकमलमें प्रेम करना चाहिये॥ १२-१३॥

नोट—१ *'सिव अज'* इति। श्रीशिवजी जगद्गुरु हैं; यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना॥'* (१। १११। ५) ब्रह्माजी सृष्टिरचयिता हैं जिनका लिखा देवादि भी नहीं मिटा सकते। श्रीशुकदेवजी भगवान् व्यासके गर्भज्ञानी पुत्र हैं। श्रीसनकादि ब्रह्माके पुत्र आदि-ज्ञानी हैं जो सदा ब्रह्मलीन रहते हैं। ये सब जीवन्मुक्त हैं। नारदजी देवर्षि हैं और भगवान्के मन ही कहे जाते हैं।

२ *'सब कर मत'* अर्थात् कुछ मैं ही नहीं कहता, भगवान् शङ्कर, ब्रह्मादिक तथा समस्त ब्रह्मविचार विशारद मुनियों और श्रुतिपुराणादि सब सद्ग्रन्थोंका यह मत है।—२ *'राम-पद-पंकज।'* पदपंकज कहकर निर्गुणका निषेध और सगुण स्वरूपका बोध कराया। निर्गुण-निराकारमें पदकी भावना नहीं हो सकती। पुनः, 'पंकज में नेह' करना कहनेका भाव कि अपना मन मधुकररूप करके उसमें आसक्त कर दो। यथा—*'मन मधुकर पन करि तुलसि रघुपतिपदकमल बसैहौं'*—(वि० १०५)। ३—शिवमत और ब्रह्माजीका मत ११५ (१-२) में देखिये। २—शुकदेवजीका मत भा० (९। ११। २१) में, सनकादिकका मत सनत्कुमार-संहितामें और नारदजीका भविष्योत्तरमें है। क्रमसे, यथा—

'यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥'

'तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसापूरितविश्वमेकम्।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि॥'

'यत्प्रभावान्मया नित्यं परानन्दात्मकापरम्। रूपं परमयं दिव्यं दृष्टं श्रीजानकीपते॥'

मानस आदिमें भी देखिये—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'*, *'बहु रोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए॥, भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥'* (१४) (शिवमत), *'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'* (६। ११०), (ब्रह्माजी) *'सुक सनकादि प्रहलाद नारदादि कहैं रामकी भगति बड़ी बिरत निरत॥'* (वि० २५१) (शुकादिका मत)

वि० त्रि०—*'करिअ राम-पद-पंकज नेहा'* इति। भाव कि राम आनन्द सिन्धु हैं, सुखकी राशि हैं। उसी आनन्द सिन्धुके बिन्दुसे शङ्कर तथा ब्रह्मदेवकी प्रभुता है। यथा—*'जेहि सुख सुधासिंधु सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई।'* (वि०) उनके चरणकमलोंमें प्रेम करनेसे सब सुख तुरंत सुलभ होते हैं। अतः उन्हींके चरणोंमें प्रेम करना चाहिये। यथा—*'राम चरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयबट भ्राजै।...... बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे। सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे॥'* (गी० ७। ५)

भक्तिको सुखका असाधारण कारण अन्वयमुखसे कहकर आगे उसी बातको व्यतिरेक-मुखसे कहते हैं।

सि० ति०— यहाँ *'पद'* शब्दमें सर्वांगका भाव है क्योंकि *'पद पंकज सेवत सुद्ध हिये'*, *'पदपंकज प्रेम न जे करते'* आदिसे सर्वाङ्ग सेवा समझी जाती है। *'पद'* का अर्थ स्वरूप, लोक और चरणका जहाँ-तहाँ पाया जाता है। अथवा चरण शरीरका मूल आधार है तो मूलके कथनसे सर्वाङ्ग आ गये। *'पंकज'* (पंक=कीचड़, ज=जायमान) अर्थात् कमल कीचड़से जायमान है पर वह उससे निर्लिप्त रहता है। वैसे जीव भी कर्मकीचमें चित्तद्वारा सना हुआ है; यथा—*'कर्म कीच चित सान्यो।'* (वि० ८८) वह इन पद पंकजके स्नेहसे कर्मकीचसे निर्लिप्त रहेगा। कर्मकीच, यथा—*'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक॥'* (वि० १०२) इससे निर्लिप्त हो जायगा; यथा—*'जे बिरचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये।'*

श्रीरामजीके सब अङ्गोंमें पाँच अङ्ग कमलके समान कहे जाते हैं, यथा—*'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं। नवकंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं।……नव नील नीरज सुंदरं॥'*(वि० ४५) इस पदमें मनके लिये पाँच अङ्ग कमलके आधार कहे गये हैं। कमलका स्नेही भ्रमर षट्पद कहाता है। वैसे ही मन भी षट्पद एवं विषयरसलोलुप कहाता है; **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।……श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च॥ अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥'**(गीता० १५। ७-९) भ्रमरको कमलमें ही रस, रूप (शोभा), गन्ध, कोमलता और परागरूपसे पाँचों विषय मिल जाते हैं, इसीसे वह इसे नहीं छोड़ता। यहाँतक कि सन्ध्या-समय कमलके सम्पुटित होनेके साथ वह स्वयं उसमें बन्द हो जाता है और काष्ठछेदनमें निपुण होता हुआ भी स्नेहके कारण कमलपत्रोंको नहीं काटता। ऐसे ही जीव भी मनरूपी भ्रमरके द्वारा श्रीरामजीके कमलरूप पाँच अङ्गोंमें स्नेह करके पाँचों विषय प्राप्त करता हुआ भी, संसारसे पृथक् (निर्लिप्त) होगा और उनमें ही स्नेहसे भर जायगा। उन्हें फिर कभी नहीं छोड़ेगा। यथा—*'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषयभोग बस करइ कि तिन्हहीं॥'*(२। ८३) *'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* आगे पाँचों अङ्गोंमें पाँचों गुण दिखाते हैं।—

रस—श्रीरामजीके नेत्रकमलमें कृपा गुणरस है। यथा—*'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना॥'*, *'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी॥'* इसी कृपा गुणसे अवतार लेकर चरित करते हैं, जिसके गानमें रसना तृप्त होगी।

कोमलता—मुखकमलमें वचनोंके द्वारा कोमलता-गुण है। यथा—*'कहि बातें मृदु मधुर सुहाई'*, *'कहि मृदु मधुर मनोहर बचना।'* (१। २२५) इनके सुननेमें कानोंको सुख मिलेगा; यथा—*'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं॥'* (क० २। २३) *'भाइ सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं॥'* (गी० १। ७१) इस तरह ठौर-ठौरके भाषण सुननेमें श्रवण तृप्त होंगे।

गन्ध—करकमलमें सुगन्ध गुण है, इसके दानसे पानेवालोंकी फिर वासना नहीं रह जाती। यथा—*'जोइ जाच्यो सोइ जाचकता बस फिर बहु द्वार न नाच्यो॥'*(वि० १६३) तथा *'कनक कुधर केदार……॥'* (क० ७। ११५) में उत्कृष्ट रीतिसे दातृत्व वर्णित है। यहाँ नासिकाकी तृप्ति होगी, परमार्थपक्षमें संसारवासना ही गन्ध-विषयमें प्रधानरूपमें ली जाती है, इतर आदि गौण हैं। पुनः श्रीरामजीके शरीरमें सौगन्ध-गुण भी है; उसकी भावनासे भी नासिका-तृप्ति होती है।

पराग—पदकमलमें पराग-गुण है, जिससे स्पर्श-विषयके भारी पापसे अहल्या शुद्ध हुई। इस माहात्म्यके साथ स्मरणसे करोड़ों जन्मोंके त्वचाके दोषरूप स्पर्श-विषय-विकार शुद्ध होंगे, यहाँ त्वचाकी तृप्ति हुई।

शोभा—यहाँतकके चार अंग अनुरागवर्द्धक लालकमलके समान हैं। सर्वाङ्ग शरीर नीलकमलके समान श्याम-शोभा-गुणयुक्त है; यथा—*'सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥'* श्रीरामजी श्याम शरीर होनेसे शृङ्गारमय हैं। क्योंकि शृङ्गाररस श्याम ही कहा जाता है, यथा—*'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (१। २४१) इस शोभामें लोचन कृतार्थ होंगे।

इस प्रकार मन अपने पाँचों विषयोंके रूपमें श्रीरामजीमें ही रमणकर कृतार्थ होगा।

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ १४॥
कमठपीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥ १५॥

अर्थ—श्रुति, पुराण (आदि) सभी ग्रन्थ कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके बिना सुख नहीं हो सकता॥ १४॥ कछुएकी पीठपर बाल भले ही जम आवें (तो जम आवें) और बाँझका पुत्र भले ही किसीको मार आवे (यह अनहोनी हो जाय तो हो जाय)॥ १५॥

नोट—'*श्रुति पुरान*......' इति (क) श्रीरामपदपंकजमें प्रेम क्यों करना चाहिये इसपर श्रुति-पुराणका सिद्धान्त कहते हैं कि बिना उनकी भक्तिके सुख स्वप्नमें भी नहीं मिल सकता। यदि सुखकी चाह है तो श्रीरामजीका भजन करो। ईश्वरों और मुनीश्वरोंका प्रमाण देकर फिर भगवान्‌की निज वाणी इत्यादिका प्रमाण दिया। आगे अपना निश्चित अनुभव किया हुआ सिद्धान्त भी यही बताते हैं। (प्र० सं०) श्रुति स्वतः प्रमाण है, पुराण आर्षग्रन्थ होनेसे परतः प्रमाण हैं। '**सब**' से अन्य सभी सद्ग्रन्थ अभिप्रेत हैं। '***कहाहीं***' अर्थात् एकस्वरसे कहते हैं। पहले कहा कि सभी आप्तोंका यह मत है और अब कहते हैं कि सब आप्तवाक्योंका भी यही मत है। (वि० त्रि०) (ख)—'*रघुपति भगति बिना*......' यथा—'***गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥***' (८९) देखो। ऊपर कहा कि '***करिअ राम-पद-पंकज नेह***' इसमें '***राम***' **शब्दमें** अति व्याप्ति है। अतः श्रुति-पुराण वाक्यसे स्पष्ट कह दिया कि दाशरथि राम जो रघुकुलमें अवतीर्ण हुए उनकी भक्तिके बिना सुखका अभाव जानो। (ग)—'***सुख नाहीं।***' भाव कि अन्य किसी उपायसे सुख-प्राप्तिकी आशा न करो। यथा—'***सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥***' (११५। ३, ४) देखिये।' (घ)—'***रघुपति भगति बिना सुख नाहीं***' यह कहकर आगे असम्भव दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं।

वि० त्रिपाठीजीका मत है कि यहाँ पाँच बार सुखका निषेध किया है, यथा—(१) ***सुख नाहीं,*** (२) ***जीव न लह सुख,*** (३) ***न जीव सुख पावै,*** (४) ***सुख पाव न कोई*** और (५) ***न भव तरिय।*** यहाँपर वेदान्तकथित पाँचों आनन्द (योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द) बिना माने अर्थ नहीं बनता। आत्मानन्दमें तथा अद्वैतानन्दमें तीन-तीन दृष्टान्त, विद्यानन्दमें एक और विषयानन्दमें पाँच दृष्टान्त दिये। योगानन्द बिना रघुपतिकी भक्तिके नहीं हो सकता।

नोट—२ (क) '***कमठपीठ।***' कछुवेकी पीठपर बालका जमना त्रिकालमें असम्भव है। क्योंकि उसमें हड्डी-ही-हड्डी है। (ख) ***बंध्यासुत***—बाँझ स्त्रीके पुत्र त्रिकालमें असम्भव है, यथा—'***बाँझ कि जान प्रसव की पीरा***' '***नतरु बाँझ भलि बादि बियानी।***' जब पुत्र हो ही नहीं सकता तब यह कहना कि बाँझ स्त्रीके पुत्रने अमुकको मारा यह सर्वथा असम्भव है।*

नोट—त्रिपाठीजीका मत है कि '***कमठपीठ***' के उदाहरणसे दिखाया कि मिथ्या आत्मासे सुख नहीं हो सकता। जिस जीवको कछुआ कहते हैं उसकी पीठ देह होनेसे मिथ्या आत्मा है। जिसमें भेद हो और दिखायी न पड़े वह मिथ्या आत्मा है। यहाँ शरीर और आत्मामें भेद है, परंतु दिखायी नहीं पड़ता, इसलिये शरीर मिथ्या आत्मा है। '***बंध्यासुत***' के उदाहरणसे सूचित किया कि गौण आत्मासे भी सुख पाना असम्भव है। पुत्र गौण आत्मा है। जिसमें भेद स्पष्ट हो और गुण मिले उसे गौण आत्मा कहते हैं।

प० प० प्र०—'***कमठपीठ***......' से '***सिकता तै बरु तेल***' तक नौ दृष्टान्त दिये हैं। 'नौ' का अंक गोस्वामीजीको बहुत प्रिय मालूम होता है। प्रथम तीन दृष्टान्तोंमें जगत्‌की सत्ता और अजातवाद सूचित किया। '***तृषा जाइ बरु मृग जल पाना***' से जगत्‌की प्रातिभासिक सत्ता सूचित की, 'अंधकार-रवि और हिम-अनल' दृष्टान्तोंसे व्यावहारिक सत्तामें, जागृतिसे सुखाभाव-तुच्छ सत्तासे सुषुप्तिमें सुखाभाव, प्रातिभासिक

* रा० प्र०—'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।' अर्थ-जगत्‌में जाहिर होनेके लिये 'मारा' यह कहा। 'मारा असम्भव ख्यात होब ज्योतिष मंत्रशास्त्ररीति।'

सत्तासे स्वप्नमें भी सुखाभाव दर्शित किया है। ☞ *'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं'* उपक्रम है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ'* उपसंहार है। इस तरह *'सुख नाहीं'='न भव तरिअ'* यह सिद्धान्त ध्वनित किया। भवतरण ही सुख है, भवबंधन ही दु:ख है यह भी सूचित किया।

फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ १६॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ १७॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥ १८॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ १९॥

अर्थ—आकाशमें भले ही अनेक प्रकारके फूल फूलें (तो फूलें)। पर हरिविमुख होकर जीव सुख नहीं प्राप्त कर सकता॥ १६॥ मृगबारि (मृगतृष्णाजल) के पानसे प्यास भले ही बुझ जाय (तो बुझ जाय) और खरगोशके सिरपर सींग भले ही जम आवें (तो जम आवें)॥ १७॥ अंधकार भले ही सूर्यका नाश कर दे (यह असंभव संभव हो जाय तो हो जाय) पर रामविमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता॥ १७॥ पाला वा बर्फसे अग्नि भले ही प्रकट हो जाय (तो हो जाय) पर रामविमुख होकर कोई भी सुख नहीं पा सकता॥ १९॥

नोट—१ आकाशमें फूल नहीं फूलता, फूल बिना वृक्षके नहीं हो सकता और वृक्ष बिना थलके लग नहीं सकता, अतएव आकाशमें फूल फूलना सर्वकालमें असत्य है, यथा—*'जग नभ बाटिका रही है फलि फूलि रे। धुआँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे।'* (वि०) २—*'जीव न लह सुख।'* तीन दृष्टान्त देकर इस कथनको सिद्धान्त कहते हैं। भाव कि ये असम्भव बातें हो नहीं सकतीं, ये असम्भव सम्भव हो जायँ तो हो जायँ पर *'जीव न लह सुख'* यह सिद्धान्त अटल है, इसमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता इसी प्रकार आगे भी लगा लें। ३—*'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना'*—मृगतृष्णाजल झूठा है, वहाँ जल त्रिकालमें नहीं। तब उससे प्यास बुझना कहना असम्भवको सम्भव कहना है। यथा—*'तृषित निरखि रबिकर-भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥'* (बा० ४३। ८) *'जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'* (बा० ११७)

वि० त्रि०—*'फूलहिं नभ……'* इति। मिथ्या, गौण और मुख्य तीनों आत्माएँ जीवके रूप हैं। मिथ्या और गौण आत्माओंसे सुख नहीं मिल सकता। यह ऊपर बता आये। अब *'फूलहिं नभ……'* में मुख्यात्माको कहते हैं। नभ और मुख्यात्मा-(साक्षी-) में निर्लेपता साधारण धर्म है। विषय प्रिय है और आत्मा प्रियतम है। पुत्र, मित्र, कलत्र, धनादि प्रिय हैं, पर साक्षी आत्मा सबसे प्रिय है उसके लिये होनेसे ये भी प्रिय होते हैं। उसमें परिणाम होना आकाशमें फूल फूलनेके समान असंभव है। हरिकी ओर मन न लगाकर दूसरी ओर लगाना ही हरिविमुख वा हरि प्रतिकूल होना है। हरिविमुख होनेसे जीवको सुख नहीं होता क्योंकि उसे तो मुख्यात्मासे भेंट ही नहीं होती। इससे यह कहा कि भक्तिविहीनको आत्मानन्द नहीं मिलता।

'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना' इति। मायाकी उपमा मृगजलसे दी जाती है। मृगजलकी भाँति मायामें भी आनन्दकी मिथ्या प्रतीति होती है। वस्तुत: इसमें आनन्द नहीं है। यह दु:खरूपा है। आनन्दाभिलाषी इसीमें आनन्द-प्राप्तिका प्रयत्न करते-करते दु:ख पा-पाकर मर जाते हैं, कभी सुख नहीं मिलता। इस दृष्टान्तसे मायाको दु:खरूपा, मिथ्या और जड़ कहा।

'सस सीस बिषाना'—खरगोशको न सींग है, न होगी और न प्रतीत होती है। अत: खरगोशको सींग होना मिथ्या ही नहीं बल्कि असत् है। यही अजातवाद है। जिसमें जो वस्तु स्वभावसे प्राप्त नहीं उसमें वह वस्तु नहीं होती। ब्रह्मलीन विज्ञानीके लिये जगत् तीनकालमें शशविषाणकी भाँति हुआ ही नहीं और न प्रतीत होता है। इससे मायाको असत् कहकर अजातवाद कहा।

नोट—४ (क) *'अंधकारु बरु रबिहि नसावै।'* इसी प्रकार श्रीभरतजीके हृदयकी शुद्धता स्थापित करनेमें प्रभुने कहा है—*'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई।'* (अ० २३२) (१) देखिये। का० में *'रबिहि'*

की जगह *'ससिहि'* पाठ है। अन्धकार तो सूर्यके सम्मुख ही नहीं जा सकता। तब भला वह सूर्यका नाश क्या करेगा? सूर्यका नाश उससे कहना असम्भवको सम्भव करना है—*'तहँ कि तिमिरि जहँ तरनि प्रकासू', 'रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।'* (७२। ८) देखो। रा० प्र० कार अर्थ करते हैं 'अन्धकार विधुन्तुद (राहु) रूप होकर चन्द्रमाको ग्रास कर ले' (ख) *'राम बिमुख न जीव सुख पावै'*—जैसे कि जयन्तको किसीने शरण न दी—*'राखि को सकै राम कर द्रोही', 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'*—(३। १। ५, ८) देखिये। *'राम बिमुख थल नरक न लहहीं।'*

वि० त्रि०—*'अंधकारु बरु रबिहि……'* इति। अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाशाभावको ही अन्धकार कहते हैं। इसी भाँति ज्ञानाभावको ही अज्ञान कहते हैं। श्रीराम सच्चिदानन्द सूर्य हैं और मोह (अविद्या) अन्धकार है। अतः रामके विमुख होकर जीव असत्, अचित् और निरानन्द मायामें जा पड़ेगा। जो मिथ्या है, असत् है, उसकी गिनती नहीं, गिनती सच्ची वस्तुओंकी होती है। अतः राम अद्वैत हैं। यथा—**'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूपरूपं।'** अतः रामसे विमुख जीव द्वैतरूपी दुःखमें आ पड़ता है। यथा—*'द्वैतरूप तमकूप परौं सो नहिं कछु जतन बिचारो।'*—इस दृष्टान्तसे बताया कि रामविमुखको अद्वैतानन्द कभी नहीं मिल सकता। लोकदृष्टिसे माया वास्तवी है, शास्त्रदृष्टिसे असत् और युक्तिसे मिथ्या (अनिर्वचनीया)। किसी भी दृष्टिसे मायाकी उपासना कर सुख नहीं मिल सकता।

प० प० प्र०—*'अंधकारु……'* इति। यह स्थिति असम्भव-सी लगती है, पर कल्पान्तके प्रलयके बाद रविको अन्धकार ग्रसता है। रवि नहीं रहता केवल अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है—**'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'**, (ऋग्वेद)। इससे यह सूचित किया कि विश्वकी स्थिति अवस्थामें तो सुख मिलेगा ही नहीं, पर कल्पान्तके पश्चात् भी सुख न मिलेगा। श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—**'तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः। किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥'**(१०। ८७। २४) भाव यह कि आपकी शरण लेकर जो जीव जीवित दशामें, सृष्टिकालमें, आपकी कृपासे भवभयमुक्त न हो सका, उसको प्रलयके बाद भी आपके अत्यन्त समीप होनेपर भी सुखप्राप्तिका कुछ साधन ही नहीं रहता है, उस समय न तो स्थूलसत्-आकाशादि, न असत्-सूक्ष्म महदादि, शरीर, कालवैषम्य, इन्द्रिय और प्राण ही रहते हैं और न शास्त्र ही और *'तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना'* तब सुख कब सम्भव हो सकता है।

नोट—५ *'बिमुख राम सुख पाव न कोई', यथा—'रामबिमुख सुख कबहुँ न सोवा।'* ऊपर *'जीव न लह सुख' 'राम बिमुख न जीव सुख पावै'* कहा और यहाँ *'सुख पाव न कोई'* इस प्रकार साधारणतया तो कोई='कोई जीव या प्राणी', पर साथ ही विशेष भाव यह भी निकलता है कि पूर्व जीवोंके विषयमें ही कहा था और अब शब्द बदलकर जनाया कि जीवकी क्या, यदि ईश्वर भी, जैसे कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश रामविमुख हों तो उनको भी सुख न होगा।

वि० त्रि०—*'हिम ते अनल……'* इति। अनलसे जलकी उत्पत्ति हुई है और जलकी जड़ीभूतावस्था ही हिम है। अतः हिमसे अग्नि नहीं प्रकट हो सकती। हिमका स्वभाव जड़ है। अतः यहाँ जड़ मायाकी उपमा हिमसे दी है। इससे विलक्षण स्वभाववाले अग्निकी उपमा चेतनसे दी है। चेतन सुखरूप है, माया दुःखरूपा है। सो दुःखरूपा मायासे चाहे सुख मिल जाय। परमात्मा और आत्माके बीचमें पड़कर मायाने ही दोनोंको अलग कर रखा है। योगसे माया और आत्माका विवेक हो जानेसे द्वैतभय भाग जाता है और दुःखाभाव, कामाप्ति, कृतकृत्यता तथा कृतार्थता होती है, यही विद्यानन्द है। सो मायासे विद्यानन्द सुखका होना असम्भव है। और रामविमुख होनेसे तो और भी अधिक असम्भव है। 'कोई' का भाव कि योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द अथवा विद्यानन्दमेंसे कोई भी।

दो०—बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥ १२२ (क)॥

अर्थ—जलके मथनेसे घी भले ही हो जाय (निकल आवे) और रेतसे तेल भले ही निकल आवे, पर यह सिद्धान्त अटल है, कदापि टल नहीं सकता कि बिना भगवद्भजनके संसार नहीं तरा जा सकता॥ १२२ (क)॥

नोट—१ जल मथनेसे घी नहीं निकल सकता, यथा—*'घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए।'* (४९। ५) और रेतको रेतने (पेरने) से तेल नहीं निकल सकता। *'होइ बरु'* अर्थात् ये आश्चर्य घटनाएँ हो जायँ, ये सिद्धान्त टल जायँ तो टल जायँ, पर हरिभजन बिना भवपार नहीं हो सकते, यह सिद्धान्त अटल है, किसी प्रकार किसीकी भी सामर्थ्य नहीं कि टाल दें। ***अपेल***=न पेलन (टालने योग्य), यथा—*'**आएहु तात बचन मम पेली।**'* (अ०) (ख) *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ——'* इति। *'**बिनु हरिभजन न भव भय नासा॥**'*(९०। ८) देखिये, मिलान कीजिये। यथा सत्योपाख्याने—'**लोके भवतु चाश्चर्यं जलाज्जन्म घृतस्य च। सिक्तायाश्च तैलं तु यत्नाद् यातु कथञ्चन॥ विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते**'(१५। १६। १७) मूर्खोंके विषयमें कहते हुए श्रीभर्तृहरिजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—'**लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासादितः। कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ ७५॥ [सिकतया बरु तैलमथापि वा घृतमपां मथनाद्यदि चेद् भवेत्। भगवतो भजनेन विना नरो नहि कदापि तरेद्भवसागरम्**'॥ (वि० टी०)]

वि० त्रि०—योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द और विद्यानन्दको कह चुके, विषयानन्द शेष रहा उसके बारेमें अब कहते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ ही सुख-दुःख-मोहात्मिका होकर शान्ता, मूढ़ा और घोरा नामसे अभिहित होती हैं। वैराग्य, क्षान्ति, औदार्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं। तृष्णा, स्नेह, राग, लोभादि घोर वृत्तियाँ हैं और सम्मोह, भयादि मूढ़ वृत्तियाँ हैं। इनमेंसे निर्मलताके कारण शान्तामें ब्रह्मका सुखांश भी प्रतिबिम्बित होता है और घोरा-मूढ़ामें केवल सत्तांश और चिदंश ही प्रतिबिम्बित होता है। अतः घोरा-मूढ़ामें सुख नहीं। यहाँ जलकी उपमा घोरा वृत्तिसे दी गयी है, क्योंकि जलका प्रच्यवनशील स्वभाव होता है। जो जिसमें रहता है वही उद्योग करनेपर निकलता है। जलमें घी है ही नहीं तब निकलेगा कहाँ, वैसे ही घोरा वृत्तिमें सुखांश है ही नहीं तब सुख मिलेगा कैसे?

सिकताके स्थूलतर होनेके कारण उसे मूढ़ा वृत्तिसे उपमित किया, बालूमें तेल नहीं होता, अतः उसे पेरनेसे तेल नहीं निकलता। इसी तरह मूढ़ावृत्तिसे सुख मिलना असम्भव है। घोरा-मूढ़ा वृत्तियोंसे यों ही सुख मिलनेवाला नहीं तब बिना भजनके तो और भी असंभव है।

'बिनु हरिभजन——'—भाव कि शान्ता वृत्तिसे निस्सन्देह क्षणिक सुख मिल जाता है और वह भी इसी कारणसे कि उसमें सच्चिदानन्द रामकी एक झलक पड़ जाती है, पर उस सुखसे कोई उपकार नहीं होता, पूर्ण सुख अथवा भूमा सुख तो भवसन्तरण करनेपर ही मिलेगा। सो यह क्षणिक सुख ही तो जीवको संसारमें बझाये हुए है इससे भवसन्तरण नहीं हो सकता। अतः शान्ता वृत्तिको स्थिर करनेके लिये हरिभजन करना होगा इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

नोट—२ *'करिय रामपद पंकज नेहा'* इस मतका समर्थन यहाँतक हुआ। *'रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं।'*(१२२। १४) उपक्रम है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ* उपसंहार है। ऊपर *'सुख'*, शब्द और अन्तमें *'भव तरिअ'* कहकर जनाया कि भवपार पाना यही सुख है।

'यह सिद्धांत अपेल।' सिद्धान्त=वह बात जिसके सदा सत्य होनेका निश्चय किया गया हो। न्यायशास्त्रमें सिद्धान्त चार प्रकारके कहे गये हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम। सर्वतन्त्र वह है जिसे विद्वानोंके सब वर्ग या सम्प्रदाय मानते हों अर्थात् जो सर्व-सम्मत हो। प्रतितन्त्र वह है जिसे किसी शाखाके दार्शनिक मानते हों और किसी शाखाके विरोध करते हों। जैसे, पुरुष या आत्मा असंख्य हैं, यह सांख्यका मत है, जिसका वेदान्त विरोध करता है। अधिकरण वह है जिसे मान लेनेपर कुछ और भी सिद्धान्त साथ मानने ही पड़ते हैं।—जैसे, यह मान लेनेपर कि आत्मा केवल द्रष्टा है, कर्त्ता नहीं, यह मानना ही पड़ता है कि आत्मा मन आदि इन्द्रियोंसे पृथक् कोई सत्ता है। अभ्युपगम वह सिद्धान्त है जो स्पष्ट

रूपसे कहा न गया हो पर सब स्थलोंको विचार करनेसे प्रकट होता है। जैसे न्यायसूत्रोंमें कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि मन भी एक इन्द्रिय है, पर मनसम्बन्धी सूत्रोंका विचार करनेपर यह बात प्रकट हो जाती है—यहाँ *'सिद्धांत अपेल'* कहकर सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो सर्वसम्मत है, वह जनाया।

वि० त्रि०—*'यह सिद्धांत अपेल'* इति। भाव कि ज्ञानकी सिद्धिमें भी व्यभिचार है, साधन-भक्तिसे सुलभताके साथ ज्ञानसिद्धि हो सकती है। अतः उस सिद्धान्तको अपेल नहीं कहा। यथा—*'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई।'* पर भक्ति नहीं हटायी जा सकती है, उसे हटानेपर सब साधन ही व्यर्थ पड़ जाते हैं, इसलिये कहते हैं कि *'यह सिद्धांत अपेल।'*

वीरकवि १—इन उदाहरणोंकी बातें सब जानते हैं, कि सत्य मानी जाती हैं, भुशुण्डिजी अपने ज्ञानबलसे प्रमाण देते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण अलङ्कार है। इस प्रकरणमें 'रामविमुखीको सुख नहीं मिलता, इस बातकी उत्कृष्टताके लिये जो-जो हेतु कल्पित किये गये हैं वे उत्कर्षके कारण नहीं हैं। चाहे वे असम्भवपूर्ण घटनाएँ हो जायँ तो भी यह स्वयंसिद्ध है कि हरिविमुखी सुखी नहीं हो सकता, 'प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार' है। दोहेका पूर्वार्द्ध भी यही है। सरदारकविने अपने मानस-रहस्यमें यहाँ 'मिथ्याध्यवसित अलङ्कार' माना है परंतु मिथ्याध्यवसित वह है जहाँ एक मिथ्याको सत्य करनेके लिये दूसरी मिथ्या बात कही जाती है। जैसे—जो आकाशके पुष्पका रस आँखमें अंजन करे वह साँपके कानको देख सकता है। आकाश-पुष्पका रस मिथ्या वस्तु है उसके सम्बन्धसे सर्पके कानका मिथ्यात्व निश्चय किया गया है। इस कारण मेरी समझमें यहाँ मिथ्याध्यवसित अलङ्कार नहीं है। २—बिना हरिभजन भवपार होनेका अभाव 'प्रथम विनोक्ति' है।

सि० ति०—*'कमठपीठ'* से लेकर यहाँतक नौ असम्भव दृष्टान्त कहे गये। ९ संख्याकी सीमा है। इससे यह भाव निकलता है कि ऐसी असंख्य असम्भव बातें चाहे हो जायँ तो हो जायँ पर हरिभजन बिना कोई भवपार नहीं हो सकता।

दो०—मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥१२२ (ख)॥
श्लोक—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥१२२ (ग)॥

अर्थ—प्रभु मच्छड़को ब्रह्मा कर दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी छोटा (तुच्छ) कर दें, ऐसा विचार कर चतुर लोग संशय छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं। मैं तुमसे भली प्रकार खूब निश्चय किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (व्यर्थ, झूठे) नहीं हैं कि जो मनुष्य भगवान्‌का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर संसारको तर जाते हैं॥ १२२॥

नोट—१ (क) मसक सृष्टिमें बहुत छोटा जन्तु है और सृष्टिरचयिता ब्रह्मा जीवोंमें सबसे बड़े हैं। सबसे बड़ेको सबसे छोटा और सबसे छोटेको सबसे बड़ा कर देनेका सामर्थ्य होनेसे *'प्रभु'* कहा। '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।**' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जो इस समय ब्रह्मदेव हैं वे किसी समय मच्छड़ थे और जो आज मच्छड़ है वह किसी समय ब्रह्मा रह चुका हो, क्योंकि ब्रह्मदेवसे भी पतन शास्त्रोंमें सुना गया है। —'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।' (ख) *'अस बिचारि'*—जैसा ऊपर *'सब कर मत खगनायक एहा'* से यहाँतक कह आये कि यह सिद्धान्त अटल है, दूसरे श्रीरामजी सबके प्रभु हैं, उनका यह सामर्थ्य है कि मच्छड़को ब्रह्मा बना दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी हीन बना दें, यथा—*'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो।'* (वि० ९४) तब भला हम शरण जायँगे तो हमें वे भवपार क्यों न कर देंगे? मिलान कीजिये—*'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि......।'* (११९)

वि० त्रि०—(क) *'अस बिचारि......'* इति। भाव यह है कि अनन्तकालसे इस संसारमें पड़े दुर्गति सह रहे हैं, दुःखनिवृत्तिका उपाय करते ही मर रहे हैं, पर आजतक न मुक्ति ही हुई, न भक्ति ही मिली।

अतः समर्थका आश्रय ग्रहण ही अब एकमात्र उपाय है। श्रीरघुनाथजी-सा समर्थ कोई नहीं, उन्हींके आश्रय-ग्रहणसे बेड़ा पार है। (ख) *'तजि संसय'*—भाव कि सब प्रकारका समाधान कर देनेपर भी यदि मनुष्य स्वयं संशय न हटावे तो वह बना ही रहता है। इसीलिये भगवान् शंकरने कहा—*'तजु संसय भजु रामपद।'*(१। ११५) *'रामहिं भजहिं प्रबीन'*—भाव कि प्रवीणता श्रीरामको भजनेमें है। यदि चतुर प्रवीण होकर भी संसारको ही भजा तो उसकी चतुराई और जानकारी कहाँ रही? यथा—*'झूठो है झूठो है झूठो सदा सब संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गंवार महा है। जानकीजीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यौ कहा है।'*

प० प० प्र०—इस दोहेके इस अर्धमें *'प्रवीण'* शब्दकी तुलसीकृत व्याख्या ही है। इसी तरह *'जड़'* की व्याख्या ११५ (१-२) में, *'पण्डित'* की ४९ (७-८) में है। इसी तरह अनेक शब्दोंकी व्याख्याएँ मानसमें दी गयी हैं, जिनको स्मरणमें रखनेसे अन्य स्थानोंपर गूढ़ वाक्योंके भाव जाननेमें बहुत सहायता मिलती है।

नोट—२ *'हरिं नरा भजंति ये……'* यथा—*'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥'*

३—यहाँ जो निश्चित सिद्धान्त निकला वह इस प्रकार है—

१—शिव, ब्रह्मा और मुनीश्वरोंका सिद्धान्त कहा—	*'करिय राम पद पंकज नेहा'*
२—श्रुति-पुराणादिका सिद्धान्त कहा—*'रघुपतिभगति बिना सुख नाहीं',*	*'जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला'*
३—जोर देकर अपना अनुभव सिद्धान्त कहा	*'राम बिमुख न जीव सुख पावइ'*
(रामविमुखको सुखकी प्राप्तिका अभाव)	*'बिमुख राम सुख पाव न कोई'*
४—अन्य साधन असमर्थ हैं—	*'बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल'*
५—(भक्तिसे भवतरण निश्चय है)—	*'हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते'*

नोट—४ ☞ यहाँ इतने सिद्धान्त कहे—(क) रघुनाथजीकी भक्तिहीसे सुख प्राप्त एवं भवतरण हो सकता है। (ख)—उनकी भक्तिके बिना सुख किसी प्रकार नहीं मिल सकता। (ग)—न राम-विमुख होनेसे सुख, न उनके प्रतिकूल होनेसे सुख और न उनके भजन बिना सुख। अर्थात् यदि कोई सोचे कि हम प्रतिकूल नहीं होते पर उनकी भक्ति भी नहीं करते, उदासीन रहेंगे तो उसीपर यह कहा कि उदासीन रहनेसे भी सुखकी प्राप्ति नहीं है।

वि० त्रि०—१ पूर्वके दोहेमें जिस बातको व्यतिरेकमुखसे कहा था, उसीको अब अन्वयमुखसे कहते हैं। पहले दोहेमें कहा था कि *'बिनु हरिभजन न भव तरिअ',* इसमें कहते हैं कि 'निश्चय तर जाते हैं। मैं निश्चित बात कहता हूँ' यह कहकर अपना विश्वास इस सिद्धान्तपर दिखलाया।

२ *'न अन्यथा वचांसि मे'*—यह संदेह न हो कि कही हुई और बातें निश्चित नहीं थीं, इसलिये कहते हैं कि मेरे वचन अन्यथा होते ही नहीं, अर्थात् सब कहा हुआ यथार्थ है, पर निरूपण करनेमें तर्क तथा प्रमाणसे काम लेना पड़ता है, इस समय निर्णीत अर्थ कहता हूँ। यहाँ भुशुण्डिजी अभिमान नहीं करते हैं, शिष्यमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यथातथ्य कह रहे हैं। सब हिंदीमें कहकर सिद्धान्त संस्कृतमें कर रहे हैं।

३ *'हरिं नरा भजंति……'*—भाव कि नर-शरीर भवसागरके लिये बेड़ा है; यथा—*'नरतन भवबारिधि कहँ बेरो।'* पर सब बेड़े पार नहीं लगते, बीचमें ही डूबते हैं, जो हरिको भजते हैं उन्हींका बेड़ा पार है, वे ही बुद्धिमान् हैं। *'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़ करनी॥'* कहकर जिस प्रसंगको उठाया था उसीकी समाप्ति यह कहकर करते हैं कि 'जो हरिको भजते हैं वे ही दुस्तर समुद्रको पार करते हैं।

नोट—☞ यहाँतक प्रश्नोंके उत्तर हुए, आगे प्रकरणकी इति लगाते हैं।

२—यह नगस्वरूपिणी वृत्तका श्लोक है। आ० में यह वृत्त आ चुका है।

कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥ १॥
श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! मैंने अनुपम रामचरित (कहीं) विस्तारसे और (कहीं) संक्षेपसे अपनी बुद्धिके अनुसार कहा॥ १॥ हे उरगारि! श्रुतियोंका सिद्धान्त यही है कि सब काम भुलाकर श्रीरामजीका भजन करना चाहिये॥ २॥

नोट—१ यह गरुड़के सप्त प्रश्नोंके उत्तर कहे, इसके पूर्व ४ प्रश्न जो भुशुण्डिसम्बन्धी थे उनके उत्तर कहे थे। पर यहाँ प्रसंगकी इति लगानेमें कहते हैं कि ***'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा'*** इससे जनाया कि अन्तिम प्रश्नोंके उत्तर भी रामचरितके ही अन्तर्गत हैं। जिस सत्संगमें रामचरितके सम्बन्धमें और भी ऊपरकी कथा कहनेकी आवश्यकता हो जो प्रसंगका पोषक है वह भी रामचरित है, जैसे कि योगवासिष्ठको रामचरित कहा जाता है। दूसरे संतचरित, संतस्वभाव भी रामचरित है क्योंकि संत-भगवंतमें अभेद है और इनका चरित गुण बिना रामसम्बन्धका होता ही नहीं। जितने प्रश्न हैं रामभक्ति दृढ़ करनेवाले हैं, अतः प्रश्न और उत्तर दोनों रामचरित्रके अङ्ग हैं। २—***'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा'***, यहाँ कथाकी इति लगायी। ***'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥'*** (६४। ७) उपक्रम है। ३—'अनूपा' 'स्वमति अनुरूपा' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) हरिचरित्र वेदमार्ग-संस्थापनके लिये होता है, अतः वेदोदित सम्पूर्ण बातें स्वयं करके उपदेशद्वारा जगत्‌के सामने जीते-जागते रूपमें रख दी जाती हैं, यथा—***'जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।'*** भागवत-चरितमें भी भगवद्‌गुणानुवाद ही रहता है। श्रीरामचरितमानसमें एक भगवत्-चरित्र और पाँच भागवतचरित्र (उमाचरित, शम्भुचरित, भरतचरित, हनुमत्-चरित और भुशुण्डिचरित) हैं। अतः इन सबके अन्तमें कहते हैं कि ***'कहेउँ नाथ।'*** (ख) अनूप=जगत्‌से विलक्षण। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अनुपम हैं। यथा—***'बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपं गुननिधान सो॥'***, ***'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'***, ***'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा।'***, ***'संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगलमूल।'*** (१। ३९) श्रीरामावतारमें जो चरित किया गया वह वस्तुतः अनूप है, कहीं किसी अवतारमें ये बातें नहीं पायी जातीं। यथा—

'तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावककी कलुषाइ दही है।
धर्मधुरंधर बंधु तज्यो, पुरलोगनिकी बिधि बोलि कही है॥
कीस निसाचरकी करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है।
राम सदा सरनागतकी अनखौहीं अनैसी सुभाय सही है॥ (क० ७। ६)
कौसिक बिप्रबधू मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहँ।
बालि दसानन बंधु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं॥
ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायक की अगुनी गुनगाहैं।
आरत दीन अनाथनको रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहैं॥ (क० ७। ११)

[श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि 'अनूप' का अर्थ सरस भी होता है, यथा—***'देखि मनोहर सैल अनूपा।'***]

२ ***'स्वमति अनुरूपा'***—हरिचरित्र सर्वतोभावसे कहनेमें सभी असमर्थ हैं। चारों घाटोंके वक्ताओंने अन्तमें यही स्वीकार किया है। यथा—***'मति अनुरूप कथा मैं भाषी।'*** (श्रीशङ्करजी) ***'रघुपति कृपा जथा मति गावा।'*** (श्रीयाज्ञवल्क्यजी), ***'ब्यास समास स्वमति अनुरूपा।'*** (श्रीभुशुण्डिजी) और पूर्वघाटके वक्ता गोस्वामीजी तो पूर्व ही कह आये हैं, यथा—***'मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि मन अन्हवाइ।——'***

नोट—४ ***'ब्यास समास'*** इति। जहाँ ***'बखाना'***, ***'गाना'*** इत्यादि क्रियाएँ हैं वहाँ विस्तार है। जहाँ अपूर्ण क्रिया वा संक्षेप इत्यादि शब्द हैं वहाँ थोड़ेमें कहा है। बालचरित विस्तारसे कहा, अन्तिम सप्त प्रश्नोंमेंसे 'संत, असंत मर्म और स्वभाव' तथा मानस-रोग विस्तारसे हैं; क्योंकि इनके विषयमें ***'बखानहु'*** ***'कहहु समुझाई'*** पदोंका प्रयोग हुआ है, शेष संक्षेपसे पूछे और कहे गये हैं। इसी तरह सबमें पाठक देख लें।

'श्रुति सिद्धांत।' वेदस्तुतिमें उन्होंने अपना 'सिद्धान्त' कहा है—***'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि***

भक्ति न आदरी।——' 'तव चरन हम अनुरागहीं' इत्यादि, दोहा १३ के छन्दमें देखिये। प्रमाण भी पूर्व आ चुके हैं। आगे श्रीशिवजी भी यही कहते हैं—*'रामचरन जाकर मनु राता॥——श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना।'* (१२७। ३-४) अर्थात् रामचरणमें अनुराग करना चाहिये यही श्रुतियोंका सार-सिद्धान्त है।

वि० त्रि०—(क) पहले ज्ञान-सिद्धान्तसे भजनकी उपादेयता दिखलायी, फिर भक्ति-सिद्धान्तसे दिखलायी, अब श्रुति-सिद्धान्तसे भी वही दिखलाते हैं।

नोट—५ *'सब काज बिसारी'*, यथा—**'कोटिं त्यक्त्वा हरि भजेत्।'** कहा है कि सौ काम छोड़कर भोजन कर ले और भगवद्भजनके सामने भोजनतक छोड़ देना विधि बताया है। काशीकी प्रतिमें 'काम' पाठ है। दोनोंमें भाव एक ही हैं। जनकपुरवासी और मगवासी प्रभुके दर्शनके लिये *'धाये धाम काम सब त्यागी'* *'चले सकल गृह काज बिसारी।'* श्रीसुग्रीवने वानरोंको उपदेश दिया है कि *'भजिय राम सब काम बिहाई।'*—बा० २२० (२), २४० (६), कि० २३ (६) देखो। इसके भाव वहाँ आ चुके हैं। भुशुण्डिजीके विषयमें कहा है कि *'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा'*—बस, यही *'सब काज बिसारी'* का चरितार्थ है। *'बिसारी'* का भाव कि छोड़नेमात्रसे काम न चलेगा, सब काम इसके आगे भुला दो मानो और कोई काम था ही नहीं।

वि० त्रि०—*'राम भजिय सब काज बिसारी'* इति। भाव कि विषयसे मन फेरकर भगवान्‌में ऐसा लगावे कि सचमुच विषय और कार्य सब विस्मृत हो जायँ। यथा—*'प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'* (शुक-सारन), *'तुलसी भूलि गये रख एहा।'* ऐसे भूलनेवालेका काम-काज भगवान्‌को याद रहता है। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।——'* 'काम' का अर्थ सुख भी है। जबतक दूसरे-दूसरे सुख याद हैं तबतक भजन नहीं हो सकता। दूसरे सुख सीठे लगें तब राम मीठे लगते हैं। *'उरगारी'* सम्बोधनका भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, संशयसर्पसे भी आप वेदोदित सिद्धान्तद्वारा अपनी रक्षा कीजिये। वेदोंके सिद्धान्त सुननेपर वेदानुयायीके हृदयसे शंका दूर होकर दृढ़ निश्चय हो जाना ही प्राप्त है।

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥ ३॥
तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा॥ ४॥
पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥ ५॥

अर्थ—समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजीको छोड़कर किसकी सेवा (भजन) की जाय कि मुझ-ऐसे शठपर भी जिनका ममत्व है॥ ३॥ हे नाथ! आप विज्ञानरूप हैं, आपको मोह नहीं था, आपने तो (तथा स्वामी श्रीरघुनाथजीने तो) मुझपर (यह) अति कृपा की॥ ४॥ आपने शुक-सनकादि-शम्भुके मनको प्रिय लगनेवाली अत्यन्त पवित्र रामकथा पूछी॥ ५॥

पं० रा० व० श०—*'प्रभु'* अर्थात् अघटित घटनाको घटित कर देनेवाले हैं। *'प्रभु'* होनेसे साधकको ज्ञान हुआ कि वे उत्कृष्ट हैं, भजने योग्य हैं, पर यदि सुलभ न हों तो हमारे किस कामके? इस शङ्काके निवृत्त्यर्थ 'प्रभु' से ऐश्वर्य कहकर दूसरे चरणमें माधुर्य कहकर जनाया कि सुलभ भी हैं—यह कृत्यसाध्य ज्ञान हुआ।

नोट—१ (क) *'रघुपति तजि सेइअ काही।'* प्रथम श्रुति-सिद्धान्त कहा कि श्रीरामजीका भजन करना चाहिये, अब और भी कारण उनके भजनेका बताते हैं कि इनको न भजोगे तो दूसरा और कौन ऐसा प्रभु है जिसकी सेवा कीजिये। प्रभुने स्वयं कहा है—*'आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई।'* (१। १५०। २) देखिये। भाव यह कि दूसरा कोई और भजे जाने योग्य नहीं है, यथा—*'नाहिंन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो॥ कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो। कौन गीध अधम को पितु ज्यों निज कर पिंड दियो॥ कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो। बालि त्रास बारिध बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो॥ भजन प्रभाउ बिभीषन भाष्यो सुनि कपि कटक जियो। तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥'* (गी० सुं० ४६) पुनः यथा—*'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद प्रभु दूजो नाहिंन। आनंद भवन दुखदवन सोक समन रमारमन गुन गनत सिराहिं न॥ आरत*

अधम कुजाति कुटिल खल पतित सभीत कहूँ जो समाहि न। सुमिरत नाम बिबसहू बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न॥ जाके पदकमल लुब्ध मुनि मधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहि न। तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस कारुनीक जो अनाथहि दाहिन॥' (वि० २०७) श्रीरामजीमें ही स्वामीके सब गुणोंका उत्कर्ष है। यथा—*'सेइय सुसाहिब राम सो॥ सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो॥——देखत दोष न खीझत रीझत सुनि सेवक गुनग्राम सो॥ जाके भजे तिलोक तिलक भये त्रिजग जोनि तनु तामसो। तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो॥'* (वि० १५७) यह भी ध्वनितार्थ है कि यदि उनके ऐसा कोई दूसरा प्रभु होता तो उनको छोड़कर उस दूसरेको भजते। यथा—*'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो। तो सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लटि ऐसो घटि को तो॥——तेरे राज राय दसरथ के लयो बयो बिनु जोतो॥'* (वि० १६१) (ख) भजनेयोग्य दूसरा प्रभु नहीं है, यह कहकर और कारण भी कहते हैं—*'मोहि से सठपर ममता जाही।'* भाव कि शठपर कोई स्वामी प्रेम नहीं करता, पर ये शठपर भी प्रेम करते हैं, यथा—*'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहि राम कृपाल। उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु॥'* (बा० २८ देखो) मैंने उनके साथ कैसी शठता की और उन्होंने उसपर भी मेरे साथ कैसा प्रेम किया, अपना निज दास बनाया। *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* कह ही आये हैं। [रा० प्र०—बिगड़ेपर कृपा और प्रेम करना ही कृपा और प्रेम है। बने, समीचीन, सेवकको तो सभी चाहते हैं; जो बिगड़े हुएको चाहे ऐसे एक ये ही हैं।] ममत्व *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* प्रसङ्गमें दिखा आये हैं।

२—(क) *'तुम्ह बिग्यान रूप'* इति। यथा—*'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी।'* विज्ञानरूप हो, अतः मोह नहीं है। (प्र० सं०) पुनः विज्ञानरूप अर्थात् वेदमय हो। यथा—**'सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनः परमेष्ठिनः'** (मात्स्ये)। ज्ञानीके सम्मुख मोह नहीं ठहरता, यथा—*'जासु ग्यान रबि भव निसि नासा।'* तब विज्ञानरूप महाज्ञानीके सम्मुख कैसे ठहरेगा? *'मोहा'* बहुवचन कहनेसे संशय और मायादिका भी ग्रहण होगा। यथा—*'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥'* (७०। ३) उपदेशके प्रारम्भमें यह कहा था और अब उपदेशकी समाप्तिमें वही बात कही। (वि० त्रि०) (ख) *'कीन्हि मोपर अति छोहा'*—*'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥——'* (७०। २—४) देखिये। पुनः, सेवकके घर आना कृपा थी और सत्संग-सुख दिया, रामचरित कहलाया इत्यादि 'अति कृपा' है। (प्र० सं०) भुशुण्डिजीका इतना उपदेश देनेपर भी यही भाव बना हुआ है कि गरुड़जीने मोहके बहाने यहाँ आकर मुझपर बड़ी दया की, मुझे बड़ाई दी।

वि० त्रि०—*'पूँछिहु राम कथा——'* इति। (क) भाव कि तुम समझते थे कि मुझे मोह था, पर मेरी समझमें वह मोह नहीं था, वह विद्या थी; यथा—*'प्रभु सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥'*; क्योंकि जिसे रामकथाकी पूछ है, उसे मोह कहाँ? इसीलिये मैं कहता हूँ कि *'तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा।'* (ख) *'अति पावनि'*—भाव कि जिसे मोह होता है वह अपावन बात पूछता है। यथा—*'होहिं बिप्र बस कवनि बिधि कहहु कृपा करि सोउ। तुम्ह तजि दीन दयाल निज हितू न देखौं कोउ॥'* (१। १६६) (भानुप्रतापने यह पूछा था।) और तुमने त्रैलोक्यका मङ्गल करनेवाली अति पावनी बात पूछी। यथा—*'त्रैलोक्य पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।'* (४। ३०) (ग) *'सुक सनकादि संभु मन भावनि'* भाव कि जो शुक-सनकादि-शम्भुको प्रिय लगती है वही तुम्हें भी अच्छी लगी। इतने बड़े महापुरुषोंकी रुचिसे तुम्हारी रुचि एक थी, कैसे कहें कि तुम्हें मोह था। जिसे मोह होता है उसकी रुचि बिगड़ जाती है, उसे कटु वस्तु कटु नहीं मालूम होती। यथा—*'काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगत न ताही॥'*

नोट—*'अति पावनि'* के भाव पूर्व आ चुके। *'सुक सनकादि संभु मन भावनि'*—सनकादि मन भावनि, यथा—*'ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं।'* समाधि बिसारकर सुनते हैं। शम्भु-मन-भावनि, यथा—*'सिव प्रिय मेकलसैलसुता सी।'* (१। ३१। १३) शुक-मन-भावनीका बड़ा भारी प्रमाण यह है कि कृष्णपरक ग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' शब्द दो ही बार आया है और वह श्रीरामजीका ही विशेषण है दूसरे किसीके लिये इस विशेषणका प्रयोग नहीं हुआ। (भा० ११। ५) यथा—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एको बारा॥ ६॥
देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी॥ ७॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥ ८॥

अर्थ—संसारमें सत्सङ्ग पलभर या दण्डभर वा एक बारका भी मिलना दुर्लभ पदार्थ है॥ ६॥ हे गरुड़! अपने हृदयमें विचार तो देखिये, क्या मैं रघुवीरके भजनका अधिकारी हूँ? अर्थात् नहीं हूँ॥ ७॥ पक्षियोंमें सबसे नीच पक्षी, सब प्रकारसे अपवित्र मैं, सो मुझको प्रभुने साक्षात् जगत्-पावन कर दिया। यह जगत्-प्रसिद्ध बात है॥ ८॥

नोट—१ *'सतसंगति दुर्लभ……'*—*'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई'* बा० ३ (७) देखिये। दुर्लभता दूसरे चरणसे भी दिखाते हैं कि निमिषमात्रका भी हो जाय तो बहुत है, यथा—***'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'*** (सुं० ४) देखिये। क्योंकि वह मोक्षका मार्ग है, यथा—*'संत संग अपबर्ग कर……पंथ।'* और संतोंका मिलना कठिन है। यथा—***'बिरले बिरले पाइये माया त्यागी संत। तुलसी कामी कुटिल कलि केकी काक अनंत॥'*** (वै० सं० ३२) अधिक मिल जाय तो बड़ा भाग्य समझना चाहिये; यथा—***'मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरब भाग मिलाहिं॥'*** (वै० सं० २४)

पं०—भाव यह कि अल्पकालके सत्संगका फल भी व्यर्थ नहीं जाता जैसे अल्प बीज भी पृथ्वीमें रहनेपर जब-कब अंकुर ले आता है।

नोट—२ *'मैं रघुबीर भजन अधिकारी'* इति। (क)—यहाँ ऐसा भासित होता है कि श्रीरामकृपाका रूप हृदयमें आ गया है और वे उसमें मग्न होकर विदेह होकर ये वचन कह रहे हैं। (रा० प्र०) (ख) भाव कि यह देह कुत्सित कर्मोंकी अधिकारी थी सो उसमें प्रभुने अपनी पावनी भक्ति स्थित कर दी, ऐसी पतितपावनता किसमें है?—(वै०)। अधिकारी न होनेका कारण आगे स्वयं कहते हैं—***'सकुनाधम सब भाँति अपावन।'*** भाव कि कौवा पक्षियोंमें चाण्डाल है, यथा—***'सपदि होहि पक्षी चंडाला।'*** ऐसे अपावन नीच भ्रष्टको जगत्‌में पावन प्रसिद्ध कर दिया, यथा—***'रघुपति दीन्ह बड़ाई मोही।'*** (७०। ४) देखो। हरिवाहनका आचार्य बना दिया।

वि० त्रि०—१ **'देखु गरुड़……'** इति। (क) गरुड़का भाव कि आप भगवान्‌की विभूति हैं……यथा—**'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'** (गीता)। और मैं चाण्डाल हूँ। (ख) *'देखु निज हृदय बिचारी'*—भाव कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच भूमिकाएँ चित्तकी हैं। इनमेंसे मूढ़ तो तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रावृत्तिवाले होते हैं। क्षिप्तमें रजोगुणकी अधिकता होनेसे ये बहुत चञ्चल होते हैं। विक्षिप्तमें भी विक्षेप होनेसे भक्तिकी योग्यता नहीं होती। रह गये एकाग्र और निरुद्ध, इन्हींमें भक्तिकी योग्यता है। सबसे भयभीत रहनेवाले मन्दमति कागको वह अधिकार कैसे हो सकता है जो मनुष्यको भी दुर्लभ है।

२ (क)—***'सकुनाधम'***—जिस वृक्षपर काग हो उसके नीचेसे लोग नहीं जाते, अपने घरपर उसे बैठने नहीं देते, उसका बोलना अशुभ समझा जाता है। उसको कोई पूछता नहीं। उसका मैथुन देखना बड़े भारी अनिष्टका द्योतक है। (ख) *'सब भाँति अपावन'* अर्थात् जाति, आहार, बुद्धि, स्वभाव, रुचि तथा करणी सभी अपावन है। यथा—*'पक्षी चंडाला'*, *'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा'*, *'महामंदमति कारन कागा'*, *'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'*, *'इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक*

बलाक बिचारे॥', 'तुलसी देवल देव को लागे लाख करोर। काग अभागे हगि भग्यौ महिमा भई कि थोर॥' (ग) *'बिदित जगपावन'*—भाव कि सच्चे भावसे छल छोड़कर जो भगवान्‌का होकर रहता है वही जगपावन है। यथा—*'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसील सिरोमनि स्वै। सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत है ता तन छ्वै॥ गुनगेह सनेह को भाजन सो, सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै। सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै।'* (क०) उन जगपावनोंमें मैं विदित हुआ। कहाँ मैं सुमेरुके नीलशैलका रहनेवाला कहाँ दूर दक्षिणमें भारतवर्षका कैलास पर्वत, वहाँतक मेरी प्रसिद्धि हुई। यथा—*'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल इक सुंदर भूरी॥'*

दो०—आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥
नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरितसिंधु रघुनायक* थाह कि पावै कोइ॥१२३॥

अर्थ—यद्यपि मैं सब प्रकारसे तुच्छ हूँ (वा सब विधियोंसे हीन हूँ) तो भी मैं आज धन्य हूँ, अति धन्य हूँ कि श्रीरामजीने मुझे अपना खास जन जानकर संतसमागम दिया। हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कहा है, कुछ भी बात छिपा नहीं रखी। श्रीरघुनाथजीके चरित समुद्रवत् हैं। क्या उनका कोई पार पा सकता है?॥ १२३॥

नोट—१ *'आजु धन्य मैं'* इति। पूर्व दोहा ५७ (५—७) में हम बता आये हैं कि *'पीपर तरु तर ध्यान जो धरई।'* इत्यादिमें श्रीभुशुण्डिजीकी दिनचर्या कही गयी है। वे चिरंजीवी हैं। उनका एक दिन एक-एक चतुर्युगीका होता है। हमारा एक युग उनका एक पहर है। चतुर्थ पहर-(कलियुग-) में गरुड़जी कथाके समय आये। पूरा रामचरितमानस सुना और अपने प्रश्नोंके उत्तर पाये। यह सब उनके एक दिनके चतुर्थ प्रहरमें हुआ। इसीसे समाप्तिपर वे 'आजु' कहते हैं।

श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'नीलगिरिपर कथा कहते-कहते जिसे सत्ताईस कल्प हुए उसका दिन २४ घंटेका मानव-मानसे नहीं हो सकता। अतः यही सिद्ध होता है कि उनका दिन एक चतुर्युगीका होता था। कल्प=१००० चतुर्युगी=१०००/३६०=२५/९ वर्ष भुशुण्डिजीके। २७ कल्प उनको हो चुके, इस हिसाबसे उनकी आयु २५/९x२७=७५ वर्षकी हो चुकी थी। ७६ वाँ वर्ष चल रहा था जब गरुड़जीका सत्संग हुआ।

इससे यह भी अनुमित होता है कि गरुड़जी पूरे द्वापरभर मोहमें पड़े थे। गरुड़जीको त्रेतामें यह मोह हुआ, वहाँसे वे नारदजीके यहाँ गये, उन्होंने ब्रह्मलोक भेजा, वहाँसे कैलास आये। इसीमें द्वापर बीत गया। कलियुगके प्रारम्भमें नीलगिरि आये।

नोट—२ *'आजु धन्य मैं धन्य अति—।'* क्योंकि *'धन्य घरी सोइ जब सत्संगा।'* लोग थोड़े सत्सङ्गसे ही धन्य होते हैं और इन्हें बहुत कालतक सत्सङ्ग मिला तथा अपनेको इस कृपाके योग्य नहीं समझते अतएव 'धन्य अति धन्य' कहा। जिस घड़ी, लव, निमेषादिमें सत्सङ्ग हो वह घड़ी, लवादि धन्य हैं, यह पूर्व कह आये और जिसको संतसङ्ग मिले वह भी 'धन्य अति धन्य है' यह यहाँ बताया। अर्थात् दोनोंको धन्य बताया। 'धन्य अति धन्य' इससे कि जो लवमात्रमें ही सुख प्राप्त हो जाता है वह सुख स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् भुक्ति और मुक्ति दोनोंसे कहीं अधिक है। ३—समागममें दर्शन, स्पर्श और सत्सङ्ग-वार्ता तीनों आ गयीं, इसीसे दर्शन और स्पर्श न कहकर केवल 'समागम' अन्तिम शब्द यहाँ दिया।

रा० प्र०—*'सब बिधि हीन'* अर्थात् जाति, धर्म, ज्ञानादिसे हीन। ग्रन्थसमाप्तिमें दैन्यघाट (का) प्राधान्य

* रघुबीरके—(गौड़जी)।

जनाते हैं। [पुनः, लोक-वेद सब विधिसे नीच; यथा—*'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥ राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयेउँ भुवन भूषन तब ही तें॥'* (वि० त्रि०)] *'निज जन जानि——'* का भाव कि प्रभुको 'सो प्रिय' है *'जाके गति न आनकी'*, अतः ऐसा जानकर आप ऐसे संतका समागम दिया। [मनसा-वाचा-कर्मणासे जो दास होता है, वही 'निज दास' वा 'हरिजन' है। यथा—*'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।'* (५। १३) *'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी।'*, *'मन क्रम बचन रामपद सेवक——। देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। २, १६) (वि० त्रि०)] *'जथामति'* इस प्रकार शिष्ट लोगोंकी रीति है, ग्रन्थमें इसके अनेक प्रमाण आ चुके हैं। ['जथामति' कहकर उसका कारण कहते हैं कि *'चरित सिंधु——।'* विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं। ४—*'राखेउँ नहिं कछु गोइ'* इति। जो पूर्व प्रारम्भमें कहा था कि *'पाइ उमा अतिगोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥'* (६९) उसे यहाँ चरितार्थ किया। इससे जनाया कि मेरी इतनी ही जानकारी है।]

सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥ १॥
महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥ २॥
सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥ ३॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाना गुणगणोंका स्मरण कर-करके बारंबार सुजान भुशुण्डिजी हर्षित हो रहे हैं॥ १॥ वेदोंने जिन श्रीरघुनाथजीके अतुलित बल, प्रताप, और प्रभुताकी महिमा 'न इति' कहकर गायी है॥ २॥ जिन रघुनाथजीके चरण शिवजी और ब्रह्माजीसे पूज्य हैं (अर्थात् ये भी जिनकी पूजा करते हैं) उनकी मुझपर परम कृपा! यह उनकी परम कोमलता (मृदुल स्वभाव) है॥ ३॥ ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ और न कहीं देखता हूँ। हे पक्षिराज! मैं किसे रघुपतिके समान गिनूँ (अर्थात् कोई भी इस योग्य देखा-सुना ही नहीं गया, समान कोई है ही नहीं)॥ ४॥

नोट—१ *'गुनगन नाना'* जैसे कि दोहा ९१ (१) से *'राम अमित गुनसागर'* दोहा ९२ तकमें कहे हैं। २—*'पुनि पुनि'* का भाव कि जैसे-जैसे नये-नये गुणोंका स्मरण होता जाता है वैसे-वैसे पुलक-पर-पुलक होता जाता है। और भी कारण आगे कहते हैं जैसे श्रीजनकमहाराजने कहा है—*'मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'* कहाँ तो शिव, अज ऐसे ईश्वरोंके स्वामी और वेदोंको भी अगम इत्यादि और कहाँ मैं तुच्छ!—*'राम सों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो।'* (वि० ७२) यह प्रभुकी परम कृपा और मृदुल स्वभाव स्मरण करके कृतकृत्य हो रहे हैं, इसीसे *'पुनि पुनि हरष।'* [गुणगण अर्थात् भक्तोंपर उपकार वा अपने ऊपर कृपालुतादिक। बारंबार प्रसन्नता अति रसके आस्वादनसे। (पं०) श्रीरामजीके गुणगण ही ऐसे हैं कि उनका स्मरण होनेपर सहृदय बिना हर्षित हुए रह नहीं सकता। यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जाहि न पुलक तन सो जग जीवन जाय॥'* 'सुजाना' विशेषण देकर जनाया कि भुशुण्डिजी गुणग्राहक हैं, वाणी, भक्ति, भणिति, मति और गतिकी उनको पहचान है। यथा—*'मैं गुनग्राहक परम सुजाना।'* (वि० त्रि०)] ३—*'अतुलित बल प्रताप प्रभुताई'* का वर्णन दोहा ७८ से ९२ तकमें कर चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) *'निगम नेति करि गाई'* इति। नेति-नेतिका अर्थ है कि न स्थूल न सूक्ष्म। अर्थात् ऐसी अपूर्व महिमा है कि वेद भी निषेध मुखसे वर्णन करता है, इदमित्थं कहकर शृङ्गिग्राही-न्यायसे कुछ नहीं कह सकता। (और भाव *'नेति नेति कह बेद।'* (६। ११६) में देखिये)। (ख) *'अतुलित बल'*—भाव कि जैसे उनकी महिमाका अन्त नहीं वैसे ही उनके बलकी भी नाप-जोख नहीं। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥——'* सुं० २१ (४) से २१ तक। (ग) *'प्रताप प्रभुताई'*—सामर्थ्य होनेसे ही प्रताप होता है, पर प्रताप बलसे अलग काम करता है, समर्थ बलका प्रयोग

कहीं-कहीं करता है, परंतु उसका प्रताप रात-दिन जहाँ वह नहीं है वहाँ भी काम किया करता है, यथा—*'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥', 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥'*

२ *'सिव अज पूज्य—'* इति। (क) 'चरन' एकवचन शब्द देनेका भाव कि दोनों चरणोंकी एक देव पूजा नहीं कर सकते, एककी पूजा शङ्करजी करते हैं और एककी ब्रह्माजी। दोनोंकी पूजा तो केवल जनकनन्दिनीजी करती हैं। यथा—'**कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसंगिनौ॥**' (ख) *'रघुराई चरन'* का भाव कि इन चरणोंने सदा भक्तोंके लिये कष्ट उठाया है, जिन चरणोंमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं उन चरणोंमें भक्तोंके लिये वनमें घूमते हुए काँटे गड़े, ऐसी कृपा किसीके चरणोंमें नहीं है। यथा—*'ध्वज कुलिस अंकुस कंजयुत बन फिरत कंटक किन लहे।'* (ग) *'कृपा परम मृदुलाई'*—सत्संग दिया यह परम कृपा है और मोहके मिष सतको ही मेरे यहाँ कथा सुननेको भेज दिया यह मृदुता है, जिससे मुझे मालूम भी न हो कि मेरे ऊपर कृपा हो रही है।

नोट—४ *'अस सुभाउ'*—यह कि इतनी बड़ी साहिबीमें ऐसे सावधान हैं, इतने बड़े होकर इतने छोटेपर कृपा। यथा—*'हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई। ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सों। सुर सिद्ध मुनि कबि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुबीर सों॥ खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु तें बंदित बड़े। तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥ स्वामीको सुभाउ कह्यो——।'* (वि० १३५, १००) *'सुनि सीतापति सील सुभाउ।'* पूरा पद देखिये। उद्धरण पूर्व आ चुके हैं। *'केहि लेखौं'* अर्थात् मैं तो जानता नहीं आप जानते हों तो बतायें। उनके समानके लिये जिज्ञासा ही रह गयी।

☞ मिलान कीजिये—*'भरत भाग्य प्रभु कोमलताई।'* 'न तस्य प्रतिमास्ति', 'यस्य नाम महद्यशः' *'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।'* पूर्व अत्रिजीने जो कहा है—*'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥'* उसीको यहाँ प्रश्नात्मक करके कहते हैं—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥'* इससे दिखाया कि श्रीरघुनाथजी और उनका स्वभाव दोनों अद्वितीय हैं।

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतज्ञ संन्यासी॥५॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्मनिरत पंडित बिज्ञानी॥६॥
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥७॥
सरन गए मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥८॥

शब्दार्थ—**साधक**=अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्तिमें लगे हुए। **सिद्ध**=अणिमादिक सिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं। **बिमुक्त**=जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त-करु०। **उदासी**=शत्रु, मित्र और मध्यस्थ सबमें समान भाव रखनेवाला। =जिसने घरबारकी ममता छोड़ दी हो (वि० त्रि०)। जैसे शुक-सनकादि (करु०)। **कबि**=काव्य करनेवाले; सर्वज्ञ। **कोबिद**=भाष्यकर्ता—(वै०)।=व्यवहारोंमें दक्ष—(पं०)।=विवेकी (वि० त्रि०)।=कृतविद्य,जैसे बृहस्पति, शेष, शारदा (करु०)। **कृतज्ञ**=त्रिकालदर्शी तथा औरोंकी कृतको अच्छी तरह जाननेवाले (करु०)। **जोगी**=अष्टाङ्गयोग सिद्ध (करु०)=अविद्यारात्रिमें जागनेवाला, विषयोंसे वैरागी (वि० त्रि०)। **सूर**=जो प्राण भी दे देनेमें संकोच न करे, सूर्यमण्डलको वेधकर जानेवाला (रा० प्र०)।=खड्गशूर, दानशूर, धर्मशूर (करु०)। **तापस**=उपवासादि करनेवाला। **धर्मनिरत**=अपने-अपने वर्णाश्रमधर्ममें तत्पर रहनेवाला। **पंडित**=सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता। (विवेकात्मिका बुद्धिवाला) और चराचरमें परमेश्वर बुद्धि रखनेवाला (करु०)।=परमार्थ जाननेवाला; यथा—*'तुम्ह पंडित परमारथ ज्ञाता'* (वि० त्रि०)। **बिज्ञानी**=ब्रह्मलीन।

अर्थ—साधक, सिद्ध, विमुक्त (जीवन्मुक्त), उदासीन (शत्रुमित्र-भावरहित), कवि (काव्य करनेवाले तथा

सर्वज्ञ), कोविद, कृतज्ञ (जो कृत कर्तव्य क्या है उसके ज्ञाता हैं), संन्यासी, योगी, शूरवीर, बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पण्डित और विज्ञानी भी बिना मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा किये तर नहीं सकते। मैं उन रामजीको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ (मेरा उनको बारम्बार प्रणाम है)॥ ५—७॥ जिनकी शरणमें जानेसे मुझ ऐसे पापराशि भी शुद्ध हो जाते हैं उन अविनाशी रामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ८॥

पं०—१ भुशुण्डिजी ऊपर यह कहकर कि प्रभुपर मेरा तो परम विश्वास है पर सभी प्राणियोंका उन्हींके चरणारविन्दसेवनसे कल्याण है, यह कहते हुए अन्तमें नमस्कारात्मक मंगल करते हैं।

नोट—१ प्रभुने भुशुण्डिजीसे कहा था कि सब जीव मुझे सामान्य रीतिसे प्रिय हैं जैसे सब पुत्र पिताको प्रिय होते हैं। वहाँपर प्रभुने—द्विज, श्रुतिधारी, निगमधर्मानुसारी, विरक्त, ज्ञानी, विज्ञानी, पण्डित, तापस, ज्ञाता, धनवन्त, शूर, दाता, सर्वज्ञ, धर्मरत—इतनोंको सामान्य प्रिय कहा है—[८६ (५—७) और ८७ (२-३)] उन्हींको यहाँ भुशुण्डिजी गिनाकर बताते हैं कि यद्यपि वे सब भी प्रभुके पुत्र ही हैं पर उनमें प्रभुकी भक्ति नहीं है इससे वे भवसे नहीं छूटते। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी, पंडित, सुतापस, शूर, धर्मनिरत तो स्पष्ट वही हैं। वहाँ जो निगमधर्मानुसारी, श्रुतिधारी और द्विज हैं वह यहाँ 'कृतज्ञ' (जो अपने कृत्यको यथार्थ जानता है), कोविद, विमुक्त, उदासी, संन्यासीमें आ गये, क्योंकि वर्णाश्रमधर्म वेदधर्म हैं। वहाँके धनवन्त, दाता यहाँके साधक, सिद्ध एवं धर्मनिरतमें आ सकते हैं। वहाँ सर्वज्ञ वही यहाँ कवि। कविका अर्थ सर्वज्ञ भी है।

वि० त्रि०—*'तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी'* इति। भाव कि साधकसे लेकर विज्ञानीतक चौदहोंकी सिद्धि रामभक्तिपर निर्भर है। साधक सिद्धके ग्रहणसे विषयीका भी ग्रहण हो चुका। सिद्धि भी दिव्य भोग होनेसे विषय ही है अत: ये तो भव-संतरणके लिये प्रयत्न करनेवाले ही नहीं। किसीको शत्रु-मित्र न माननेवाले उदासीनका मन निरवलम्ब हो जानेसे उसे सिवा भगवच्चरणोंमें चित्त लगानेके कोई चारा नहीं; यदि उसने न लगाया तो उसकी भी उदासीनता टिक नहीं सकती, उसकी मन:प्रवृत्ति शीघ्र ही विषयकी ओर हो जायगी। कवि और कोविदकी चित्त-प्रवृत्ति यदि हरिचरणोंमें न लगी तो उनकी कवित्व शक्ति और विवेकका प्रयोग सांसारिक विषयोंमें ही होता रहेगा। भगवान्‌के कृत देखनेसे भगवान्‌के प्रति अनुराग होगा, यथा—*'उर आनहि प्रभु कृत हित जेते। सेवहि ते जे अपनपौ चेते॥'* (वि० १२६) और यथार्थ संन्यासी रामानुरागी ही हो सकता है, यथा—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि नर बड़ भागी॥'* योगी अविद्यारात्रिमें सोता नहीं, उससे बेखबर नहीं होता, विषय-विलाससे विरक्त रहता है। मन कहीं न लगानेसे निद्रा आती है, अत: जागनेके लिये काम चाहिये। वह काम है रामभजन, यथा—*'नाम जीह जपि जागहि जोगी।'* भजन बंद हुआ कि निद्रा आयी। शूरके समरमें मरनेसे स्वर्ग मिलता है, परंतु स्वर्गसे पतन होता है। अत: प्राण देनेपर भी संसारी ही रह गये। वही शूरता यदि भगवान्‌के लिये हो तो जीने और मरने दोनों ही अवस्थाओंमें मुक्ति करतल है। यथा—*'तजउँ देह रघुनाथ निहोरे। दुहू हाथ मुद मोदक मोरे॥'* तप यदि भगवत्प्रीत्यर्थ न हुआ तो विषयप्रीत्यर्थ होगा, यथा—*'हम काहूके मरहिं न मारे।'* धर्मनिरत धर्मको प्रभुका अनुशासन समझकर करे तो सेवक ही है, यथा—*'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'* ज्ञानी ब्रह्मको ही सबमें समान देखता है और पण्डित विज्ञानी तो रामब्रह्ममें लीन रहता ही है।

उपर्युक्त कोई भी बिना रामभक्तिके भवसागर तर नहीं सकता, मायाके वशमें आ ही जाते हैं। अत: ईश्वर-कृपाके लिये भक्ति परम आवश्यक है।

खर्रा—*'राम नमामि नमामि नमामी'* यह कथाके सम्पूर्ण (समाप्तिके) समय 'मो' (में) नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। *'जासु नाम भवभेषज—'*, यह आशीर्वादरूप मङ्गलाचरणमें समाप्ति की।

नोट—२ बार-बार प्रणाम करनेका भाव कि ईश्वर और गुरुको एक बार प्रणाम नहीं करना होता। अथवा, परमेश्वरका प्रत्युपकार किया नहीं जा सकता, अत: कृतज्ञतावश बार-बार नमस्कार करते हैं। (वि० त्रि०) अथवा मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम जनाया। वा, तीनों कालोंमें, त्रिलोकमूर्तिको, त्रिदेवमूर्तिको वा वेदत्रयरूपको प्रणाम सूचित करनेके लिये तीन बार प्रणाम किया। (प०)

३—'*सरन गए मोसे*……' इति। यथा—'*मम पन सरनागत भय हारी।*' (५। ४३। ८) ।……'*कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*' (५। ४४। १-२) '*करउँ सद्य तेहि साधु समाना।*' (५। ४८। ३) 'अविनाशी' का भाव कि जो स्वयं नाशवान् है उसमें यह सामर्थ्य नहीं हो सकती। अविनाशीके प्रणामकी महामहिमा है, अतः उसीको प्रणाम करते हैं। यथा—'*रामनाम महामहिमा खनि सकल सुमंगल मनि जनी। होइ भलो ऐसेही अजहूँ गये रामसरन परिहरि मनी॥ भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी। मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगलको खनी॥*' (गी०) (वि० त्रि०)

नोट—४ ☞ यहाँ एक बार '*राम नमामि नमामि नमामी*' कहकर फिर दूसरी अर्धालीमें पुनः प्रणाम किया है। पहले प्रभुका ऐश्वर्य स्मरण करके तीन बार प्रणाम किया '*नमामि नमामि नमामी*'—हमारे स्वामी कैसे हैं कि साधक, सिद्ध, विमुक्त इत्यादि भी बड़े महात्मा यदि चाहें कि अपने बल, पुरुषार्थसे भवपार हो जायँ तो असम्भव है—बड़े-बड़ोंके लिये ऐसे दुर्लभ। और वही महापापी पापमूर्तिके लिये कैसे सुलभ हैं कि शरणमात्रसे पवित्र कर देते हैं। पहले वह प्रभुता स्मरणकर बार-बार प्रणाम किया और फिर उनका पतितपावन एवं सौलभ्यगुण समझकर फिर प्रणाम किया। दूसरी बार एक ही बार '*नमामि*' कहकर जनाते हैं कि प्रभु महापातकीको '*सकृत प्रनाम किये*' अपना लेते हैं। '*मोसे अघरासी*'=मुझ-ऐसे पापराशिको। भाव कि मेरे समान दूसरा पापात्मा नहीं। ☞ जब भक्त प्रभुकी अपार शक्तिमत्ताका विचार करता है तब वह अपनेको इसी तरह बिलकुल नीचे गिरा हुआ पाता है।

यहाँ दिखाते हैं कि उपर्युक्त-गुणसम्पन्न महात्मा होनेपर भी बिना भक्तिके उनके गुणोंका कुछ आदर नहीं होता और एक सकल गुणरहित अन्त्यज भी शरणमात्र होनेसे परम प्रिय है।

नोट—५ '*साधक सिद्ध*……*तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी।*' इत्यादिसे मिलते-जुलते भावका श्लोक श्रीमद्भागवतमें यह हैं—'**तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥**'(भा० २। ४। १७-१८) अर्थात् बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान् मनस्वी और सदाचार-परायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको जिन्हें अर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है। किरात, हूण आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा और भी पापी लोग जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र हो जाते हैं उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है।

दो०—जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल*।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनुकूल॥
सुनि भुसुंडि के बचन सुभ देखि रामपद नेह।
बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत संदेह॥१२४॥

---

* रा० प० में काशीका पाठ 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तोहिपर सदा रहहु अनुकूल' है। पं० रामगुलामद्विवेदीजीकी पोथीमें 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मो पर सदा रहहु राम अनुकूल', यह पाठ है। और भा० दा० में 'हरन घोर त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनुकूल' पाठ है।

'ताप त्रयसूल' का अर्थ 'त्रयताप (दैहिक, दैविक, भौतिक ताप) और त्रयसूल' [जन्म, जरा, मरण और गर्भादिके क्लेश (रा० प्र०)] अथवा तीनों तापोंकी पीड़ा'—(वीर), किया गया है। और 'घोर त्रयसूल' का अर्थ 'भयङ्कर तीनों प्रकारके शूल' किया जाता है। 'त्रयसूल' कौन हैं। त्रयसूल-(=त्रयः शूल-) में अनेक प्रकारके समस्त शूलोंका भाव आ जाता है—'त्रयः शूलनिर्मूलिनं शूलपाणिं।' 'मोपर सदा रहहु राम अनुकूल' का भाव कि आपपर तो अनुकूल हैं ही; यथा—'कृपापात्र रघुनायक केरे।' आपके आगमनसे मुझे 'अभिमान' उत्पन्न न हो, इसलिये प्रार्थना करता हूँ कि सदा अनुकूल रहें।

अर्थ—जिसका नाम भवरोगकी ओषधि और महाभयङ्कर त्रय:शूलोंका हरण करनेवाला है, वह कृपाल मुझपर और तुमपर सदा अनुकूल रहें। भुशुण्डिजीके शुभ वचन सुनकर और उनका श्रीरामपद-प्रेम देखकर गरुड़जी, जिनका सन्देह बिलकुल जाता रहा है, प्रेमसहित सन्देहरहित वचन बोले॥ १२४॥

नोट—१ *'जासु नाम भव भेषज……।'* यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। भवरोग महागद मान अरी॥'* (शिवकृत-स्तुति) *'हरन घोर त्रयसूल'* यथा—*'जासु नाम त्रयताप नसावन।'* [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापको यहाँ शूल कहा है। तामसिक और राजस वृत्तियाँ ही क्रमश: मूढ़ा और घोरा कहलाती हैं। ताप तो तामसिक वृत्तिमें भी होता है, पर शूलका कारण घोरा वृत्ति ही है। इसलिये घोर *'त्रयसूल'* कहा। भवभेषज कहकर मूढ़ा वृत्तिका नाश कहा और अब घोरा वृत्तिका नाश कहते हैं। भगवन्नाम मूलसहित घोर त्रयतापका नाशक है। (वि० त्रि०)]

☞यहाँ भुशुण्डिजीका कथन समाप्त हुआ।

२ (क) *'बचन सुभ'*—श्रीरामयशमिश्रित, दैन्य, विनीत, सप्रेम, श्रुतिसिद्धान्त, श्रीरामभक्तिरससाने संशयखण्डनहारी आनन्द देनेवाले तथा श्रोता-वक्ता दोनोंके लिये आशीर्वादसे युक्त इत्यादि होनेसे *'सुभ'* विशेषण दिया। (ख) *'देखि रामपद नेह।'* प्रेमकी दशा देखी, यथा—*'पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना', 'राम नमामि……।'* इत्यादि। मन, कर्म और वचन तीनोंका प्रेम दिख रहा है। तीनों तरहका प्रेम देखा।

रा० प्र०—*'मोहि तोहि'* यहाँ वक्ता-श्रोता उपलक्षक है—(पं०)। अनुकूल=प्रसन्न। 'दाहिनकी वैदिक शान्ति पाठकी यही रीति है।'

मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥ १॥
रामचरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥ २॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजीके भक्तिरसमें सनी हुई अर्थात् रामभक्तिमय आपकी वाणी सुनकर मैं कृतकृत्य हो गया॥ १॥ श्रीरामजीके चरणोंमें नवीन प्रीति हुई और सब विपत्ति जो मायासे उत्पन्न हुई थी वह जाती रही॥ २॥

नोट—१ (क) भुशुण्डिजीने कथाकी इति *'जासु नाम भव भेषज॥'* (१२४) पर की। इसके आगे अब शिवजी भुशुण्डि-गरुड़-संवाद-प्रकरणकी इति लगाते अर्थात् उपसंहार कहते हैं। (ख) कृतकृत्य=धन्य अति धन्य, कृतार्थ एवं सफल मनोरथ। [कृतकृत्य—कर्मक्रिया सम्पादित। भाव कि जिस हेतु श्रीशंकराज्ञासे आपतक आया वह अभिलाषा पूरी हो गयी। (रा० प्र०) *'तव बानी'* का भाव कि नारदजीकी वाणी सुनी, शंकरजीकी सुनी, पर मैं कृतकृत्य न हो सका; कृतकृत्य तो आपकी ही वाणीसे हुआ। (वि० त्रि०)] (ग) *'बानी रघुबीर भगति रससानी'* कहा, क्योंकि साधारण प्रश्नके उत्तरमें भी श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका बराबर वर्णन आया है। जैसे कि *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'* का उत्तर देकर साथ ही यह भी कहा कि *'सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर॥'* इसी तरह मानसरोगोंको बताकर फिर साथ ही उनकी दवा एकमात्र श्रीरामभक्ति विस्तारसे कही। सप्त प्रश्नोंके उत्तर ३४ अर्धालियोंमें और दो दोहोंमें समाप्त हो जाते पर उनके साथ ही ५ दोहों और एक श्लोक और ३४ अर्धालियोंमें रामभक्तिका ही प्रतिपादन करते हुए संवादकी समाप्ति की गयी। [पुन: भाव कि बिना भक्तिरससानी वाणीके विश्वास नहीं होता। भगवती श्रीजनकनन्दिनीजीको मुद्रिका पानेपर भी विश्वास नहीं हुआ, पर श्रीहनुमान्‌जीकी सप्रेमवाणी सुननेपर विश्वास हुआ। यथा—*'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिश्वास।'* (वि० त्रि)]

२ (क) *'नूतन रति भई।'* भाव कि श्रीरामपद-प्रेम पूर्व भी था पर वह नागपाश देखकर चला गया था; अब फिर हुआ। पूर्व कथा सुन चुकनेपर कहा था कि *'भएउ रामपद नेह'* और यहाँ कहते हैं कि *'नूतन रति भई।'* भाव कि कथा सुनकर प्रेम हुआ और अब *'रति'* अर्थात् दृढ़ भक्ति, दृढ़ अनुराग हुआ और वह भी *'नूतन'* जैसे पूर्व कभी न थी। (प्र० सं०) अनुपम सुखमूलाभक्ति आपके आशीर्वादसे

मेरे हृदयमें प्रकट हुई। यथा—*'रामभगति अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होइ अनुकूला॥'* (वि० त्रि०) (ख) *'माया जनित'*—मोह, भ्रम, संशय इत्यादि सब मायासे उत्पन्न होते हैं, यह पूर्व दिखा आये हैं और आगे गरुड़जी स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं। [भाव यह कि अविद्यासे उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये चारों क्लेश चले गये। भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्तिके पश्चात् मोह-दरिद्र उसके निकट नहीं आता, लोभकी कलाएँ नहीं चलतीं, कामादि दूर भागते हैं, मानसरोग व्यापते ही नहीं, अतः विपत्ति सब चली गयी। (वि० त्रि०)] (ग) शिवजीने जो-जो बातें कहीं वे सब हुईं—

बिनु सतसंग न हरि कथा	१ *रामकृपा तव दरसन भयऊ*
तेहि बिनु मोह न भाग	२ *तव प्रसाद सब संसय गयऊ*
जाइहि सुनत सकल संदेहा	३ *गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित*
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग	४ *भएउ रामपदनेह तव प्रसाद*......६८
रामचरन होइहि अति नेहा	*रामचरन नूतन रति भई* १२५
जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी	५ *अब श्रीरामकथा अति पावनि।......अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई*
होइहि मोहजनित दुख दूरी	६ *माया जनित बिपति सब गई*
सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर	७ *बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए।* इत्यादि

मोह जलधि बोहित तुम्ह भए*। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥ ३॥
मो पहिं† होइ न प्रति उपकारा। बंदौ तव पद बारहिं बारा॥ ४॥

अर्थ—आप मुझको मोहसमुद्रमें (डूबते हुएसे बचानेके लिये) जहाजरूप हुए। हे नाथ! आपने मुझे बहुत प्रकारके सुख दिये॥ ३॥ मुझसे प्रत्युपकार (उपकारके पलटेमें आपके साथ उपकार) नहीं हो सकता, मैं आपके चरणोंकी बारंबार वन्दना करता हूँ॥ ४॥

वि० त्रि०—*'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए'* इति। भाव कि सद्गुरु तो कर्णधारमात्र होता है, जहाज तो अपने शरीरको बनाना पड़ता है। सद्गुरुके कथनानुसार परिश्रम करना पड़ता है। यथा—*'नरतनु भवबारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ कर्नधार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥ जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक मंदमति आतमहनि गति जाइ॥'* (४४) पर आप तो मेरे लिये जहाज हो गये, मुझे कुछ करना न पड़ा, आपके उपदेशमात्रसे मोह दूर हो गया।

'मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए' इति। ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान तथा मुनिदुर्लभ गुण ये ही सुख हैं। यथा—*'ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥......प्रभु कह देन सकल सुख सही।'* (८४। १, ४) वैषयिक क्षुद्र सुखोंकी गिनती सुखमें नहीं, वस्तुतः वे दुःखके अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों सुखोंको आपने दिया।

नोट—१ *'बिबिध सुख दए।'* विचित्र विविध प्रकारकी कथा सुनाकर, फिर अपनी ओरसे श्रीरघुनाथजीका स्वभाव, उनका प्रताप, ऐश्वर्य, भक्तवात्सल्यादि गुण, इत्यादि बखानकर, उनमें मोह होनेका कारण इत्यादि बताकर, प्रभुका परम मनोहर रहस्य कहकर, ज्ञान और भक्तिका निरूपण करके, अपने सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर देकर, सप्त प्रश्नोंका उत्तर देकर इत्यादि, अनेक प्रकारका तथा अनेक बार सुख दिया। प्रत्येक प्रसङ्गके अन्तमें गरुड़का प्रेम और हर्ष दिखाया गया है। मोह, भ्रम, संशय, मायाजनित समस्त क्लेश एवं शोक दूर होनेसे सुख हुआ, रामरहस्य जानकर सुख हुआ, श्रीरामपदमें दृढ़ प्रेम होनेसे सुख हुआ, सन्तदर्शन समागमसे सुख हुआ—*'तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा।'* (११५ ६-७) देखिये।

रा० प्र०—*'होइ न प्रति उपकारा'* अर्थात् मैं आपका ऋणी बना हूँ। 'बारंबार प्रणाम' अति कृतज्ञता और प्रेमका सूचक है।

---

* भएऊ, दएऊ—(का०)। † पर—(का०)।

नोट—२ *'होइ न प्रति उपकारा'* कथनमें भाव यह है कि कोई अपने साथ उपकार करे तो उसका प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है। बदलेमें समान मूल्यका द्रव्य देना चाहिये, अल्पमूल्यका द्रव्य देना ठगना है। पर इस भक्ति-चिन्तामणि जैसी अमूल्य मणिके बदलेमें देने योग्य कोई वस्तु नहीं है, अतः मैं प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऋणीका ऋण चुकाना यदि असाध्य हो तो उचित है कि धनीसे प्रार्थना करके क्षमा माँगे और उसका दास होकर रहे। अतः गरुड़जी स्पष्ट कह रहे हैं कि *'मो पहिं—तव पद बंदउँ बारहिं बारा।'* (वि० त्रि०)

नोट—इसी प्रकार जीव गर्भके भीतर भगवान्‌से कहता है कि आप अपने किये हुए उपकारसे सन्तुष्ट हों, मैं सिवाय हाथ जोड़नेके और क्या कर सकता हूँ? **'येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन। स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥'** (भा० ३। ३१। १८)

पूरनकाम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी॥ ५॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥ ६॥

अर्थ—आप पूर्णकाम (जिसको किसी प्रकारकी कामना नहीं रह गयी है। सर्वकामना-पूर्ण) और पूर्णकाम श्रीरामजीके अनुरागी हैं। हे तात! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है॥ ५॥ सन्त, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी, इन सबकी करनी पराये उपकारके ही लिये होती है॥ ६॥

नोट—१ पूर्णकाम; यथा—*'जो इच्छा करिहहु मनमाहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥'* (११४। ४) यह आशीर्वाद सुन ही चुके हैं; अतः कहते हैं कि आपको किसी वस्तुकी कमी ही नहीं तब आपको कोई क्या दे सकता है? पूर्णकाम कहकर रामानुरागी कहनेका भाव कि पूर्णकाम हैं, क्योंकि श्रीरामजीके अनुरागी हैं, यदि किसीको कामना है तो वह रामानुरागी नहीं हो सकता, यथा—*'सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलास।'* (२। १४०) और 'रामानुरागी' कहकर तब *'बड़भागी'* कहा, क्योंकि श्रीरामचरणसे जिनका सम्बन्ध है, वे ही बड़भागी कहे गये हैं (१। २११ छन्द) *'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी—'*, (३। १०। २१) *'प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी'* देखिये। *'तुम्ह सम न कोउ बड़भागी'* का भाव कि जितने भी बड़भागी हो गये हैं उन सबोंसे आप अधिक बड़भागी हैं, आपके समान बड़भागी कोई नहीं है। इसी तरह भगवान् शङ्करने श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें कहा है कि *'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी॥' 'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥'* (५०। ८-९)

पं०—*'पूरनकाम—'*—अर्थात् निष्काम होकर श्रीराममें प्रेम करते हो, अतः कोई आपके समान बड़भागी नहीं और निष्काम होकर परोपकार करना यह सन्तोंमें आश्चर्य नहीं, यह तो उनका सहज स्वभाव है।

करु०—भाव कि श्रीरामानुरागी हो अतः बड़भागी हो। जो आपने कृपा करके मुझे इतना सुख दिया तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं, क्योंकि वेदशास्त्र कहते हैं कि *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी—।'*

नोट—२ *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी।—'*—सन्तका सहज स्वभाव ऊपर कह आये हैं। सरितामें चींटीसे लेकर हाथीतक, छोटेसे लेकर राजा, ऋषि इत्यादितक कोई भी जाय सबको वह जल पेटभर देती है। वृक्षोंमें फल लगते हैं सो वे दूसरोंको ही खिला देते हैं, छायाका सुख भी दूसरोंको इत्यादि। पर्वतमें रत्न होते हैं, वह भी राजा आदिके काम आते हैं, पत्थर मन्दिरों इत्यादिके काम आते हैं। पृथ्वीका नाम ही क्षमा है, फिर वह अन्न, रस, ओषधि इत्यादि देती है। यथा—*'परहित नित सह बिपति बिसाला।' 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'* **'पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः। नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः॥'** (सु० र० भा०) **रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैर्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति। श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं परोपकाराय सतां विभूतयः॥'**

वि० त्रि०—*'संत बिटप—'* इति। भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणीकी जड़ करनी है। ये सुख-दुःखका बिना विचार किये सबके काम आते हैं। यही गति सन्तोंकी भी है। इनकी भी जड़ करनी है। यथा—*'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'* (३७। ७-८) इस प्रकार दूसरेके हितके लिये दुःख सहनेवाला सिवा सन्तके

कोई चेतन पदार्थ नहीं हो सकता। *'परहित हेतु सबन्ह कै करनी'* कथनका भाव कि आपको न प्रत्युपकारकी इच्छा है और न कोई आपका प्रत्युपकार कर सकता है। विटपादिके सब उपकृत हैं, कोई इनका प्रत्युपकार करना चाहे तो सिवा प्रणाम करनेके और क्या कर सकता है? सन्त, विटप आदिमें सन्तके प्रथम उल्लेखका कारण आगे कहते हैं—*'संत हृदय——।'*

प० प० प्र०—जैसे विचारमान् पाणिनिने श्वान्, मघवान् और युवान्‌को एक सूत्रमें रखा, वैसे ही यहाँ कविने संतोंको जान-बूझकर जड़ोंकी पंक्तिमें बिठाया है। भाव यह कि चारों जड़ोंमें जो सद्‌गुण हैं वे सब सन्तोंमें हैं और इनके अतिरिक्त और भी बहुत गुण हैं। यह एक विस्तृत स्वतन्त्र लेखका विषय है।

रा० शं०—भुशुण्डिजी सन्त हैं, यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।'* परोपकारियोंमें इनको सबसे बढ़कर जानकर प्रथम इन्हींको कहा।—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥ ७॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवहिं संत* सुपुनीता॥ ८॥

अर्थ—'सन्तका हृदय मक्खनके समान है' ऐसा कवियोंने कहा है पर (कैसा) कहना (चाहिये यह) उन्होंने न जाना (अर्थात् उनसे समानताका उदाहरण कहते न बन पड़ा, उन्होंने ठीक उपमा नहीं दी, क्योंकि)॥ ७॥ मक्खन तो अपनेको ही ताप मिलनेसे पिघलता है और परम पुनीत सन्तजन पराये दुःखसे (दुःखको देखकर) द्रवीभूत होते हैं॥ ८॥

नोट—१ यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। उपमानसे उपमेयमें अधिक गुण है। मक्खनसे अधिक कोमल सन्तहृदय है। 'केवल रामजी' की कथा भक्तिरसबोधिनीटीका भक्तमालमें प्रसिद्ध ही है कि बैलके 'सोंटा' मारा गया और पीठपर बरत (सोंटेके चिह्न) इनके पड़ आये—ऐसा कोमल हृदय। कथनका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः नवनीतमें और इनमें समानता नहीं है। 'कोमलता' धर्म उपमेय-उपमानमें एक-सा न होनेसे उपमामें दोष है। —[पं०—भाव कि कवि सन्तोंके हृदयकी क्या जाने जैसे योद्धाके हृदयकी ढाढ़ी क्या जाने?]

वि० त्रि०—१ (क) *'संत हृदय'*—भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी जड़ होनेसे हृदयहीन हैं, सुख-दुःखका अनुभव भी इन्हें जड़ताके तारतम्यतानुसार न्यून होता है, परंतु सन्त जो कुछ करते हैं वह हृदयकी कोमलताके कारण करते हैं। अतः ये सबसे बड़े हैं। (ख) *'कहै न जाना'*—भाव कि उपमा देने चले, यह न जाना कि यह विषय वर्णनातीत है। यथा—*'कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंकज गहे।'* कही वही वस्तु जाती है जिसके समान कोई दूसरी वस्तु भी हो। उपमा-उपमेयमें समान धर्म होना चाहिये, सो यहाँ धर्ममें समानता ही नहीं है।

नोट—२ *'निज परिताप द्रवै——।'* भाव कि मक्खनमें कोमलता अपने लिये है, दूसरेके परितापसे मक्खनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, वह नहीं पिघलता, जब स्वयं अग्निपर तपाया जाता है तभी पिघलता है, अपने दुःखसे दुःखी होना यह गुण तो दुष्टोंमें भी है; अतएव उसकी प्रशंसा ही क्या? सन्त अपने दुःखसे दुःखी नहीं होते, उसे तो वे सह लेते हैं; यथा—*'खल के बचन संत सह जैसे।'* (४। १४। ४) पर पर-विपत्ति देख सह नहीं सकते, व्याकुल हो जाते हैं। यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ९) *'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ संत सहहिं दुख परहित लागी॥'* (१२१। १४-१५) *'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।'* (१। २। ६) मक्खन जाड़ेमें कड़ा और सन्त सदैव दयालु कोमल। यथा—**'सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम्। अन्यदेहदिलसत्परितापात्सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्॥'**(सु० र० भा०)

जीवन जन्म सुफल मम भएऊ। तव प्रसाद संसय सब गएऊ॥ ९॥
जानेहु सदा मोहिं निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर॥ १०॥

* सुसंत पुनीता।

अर्थ—मेरा जीवन और जन्म दोनों सफल हुए। आपकी कृपासे सब संशय दूर हो गया॥ ९॥ 'मुझे सदैव अपना दास जानियेगा।'—हे उमा! पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ बारंबार यही कह रहे हैं॥ १०॥

नोट—१ (क) *'जीवन जन्म सुफल'* हुआ। भाव कि संशय दूर न होता तो सदाके लिये भवमें पड़ता, श्रीराम-विमुख होनेसे जन्म और जीवन दोनों व्यर्थ हुए जाते थे। यथा—*'ते नर नरकरूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।—सूकर श्वान सृगाल सरिस जन जनमत जननि दुख लागी॥'* (वि० १४०) *'जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर सों जाय जियत जग माहीं॥'* (वि० १७५) *'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।'* (वि० १३१) (ख) *'तव प्रसाद संसय सब गएऊ'* कहकर जनाया कि आप मेरे सद्गुरु हैं क्योंकि सद्गुरु ही समस्त संशयोंको मिटा सकता है। यथा—*'सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'* (४। १। ७)

२—*'जानेहु सदा मोहिं निज किंकर।'* जो पूर्व कहा था कि *'मोते होइ न प्रति उपकारा'*, उसीका निर्वाह यहाँ है। भाव कि मैं ऋणी हूँ, आजीवन दास बना रहूँगा। *'किंकर'* का भाव कि आज्ञा देते रहियेगा। पुनः, यह शिष्ट लोगोंकी रीति है कि कृतज्ञता जनानेके लिये ऐसा कहते हैं। *'पुनि पुनि'*—प्रेम और कृतज्ञतासूचक है।

वि० त्रि०—(क) *'जानेहु सदा——'* इति। *'नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी॥'* कहकर प्रश्न किया था, अब उत्तर पानेपर सदाके लिये सेवक होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। पूर्णकामको सेवाकी इच्छा नहीं, अतः सेवक जाननेके लिये प्रार्थना करते हैं। (ख) *'उमा'* सम्बोधनसे जनाया कि भुशुण्डि-गरुड़-संवाद पूरा हो गया, अब कथा शिवजी कह रहे हैं। (ग) *'पुनि पुनि कहइ'*-भाव कि वाक्यको यथार्थ रूपमें ग्रहण करनेके लिये बार-बार कहते हैं, जिसमें उनका वाक्य विनय-प्रदर्शनरूपमें गृहीत न हो। इस वाक्यसे गरुड़का अभिमानरहित होना सूचित किया। (शंकरजीने प्रारम्भमें कहा था *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* उस वाक्यकी सफलता यहाँ दिखायी।)

दो०—तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर।
गएउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥
गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥१२५॥

अर्थ—उसके चरणोंमें प्रेमसहित माथा नवाकर और हृदयमें श्रीरघुवीरको धारण करके तब गरुड़जी वैकुण्ठको गये। हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर संत-समागम बिना भगवत्-कृपाके नहीं होता ऐसा वेद और पुराण कहते हैं*॥ १२५॥

नोट—१ (क) *'गएउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी।'*(६३। १) उपक्रम है और *'गएउ गरुड़ बैकुंठ तब'* उपसंहार है।—गरुड़-भुशुण्डि-संवाद-प्रकरण जो *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥'*(५३। ८) से प्रारम्भ हुआ था उसकी इति यहाँ शंकरजीने की। (ख) *'तासु चरन सिरु नाइ'* यह गुरु-संत-बुद्धिसे। जब यहाँ आये थे तब प्रणाम न किया था, तब तो ये पक्षिराजके भावसे आये थे, इसलिये उसी भावसे इनकी पूजा भुशुण्डिजीने की थी; यथा—*'करि पूजा समेत अनुरागा।——।'* (६३। ६—८) अब वह भाव जाता रहा, अतः मस्तक नवाते हैं और भुशुण्डिजी उसे स्वीकार करते हैं। (ग) *'मतिधीर'* का

* भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ भा० माहात्म्य २। ७६।

अर्थात् जिस समय अनेकों जन्मोंके सञ्चित पुण्यपुञ्ज उदित होनेसे मनुष्यको सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय उसके अज्ञानजन्य मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है।

भाव कि अब *'बिगत सन्देह'* होनेसे व्याकुलता नहीं रह गयी। (घ) *'रघुबीर'* पद दिया क्योंकि इसी रूपमें मोह हुआ था। अब उनको पञ्च-वीरतायुक्त जान लिया, अतः हृदयमें धारण किया। [*'हृदय राखि रघुबीर'* अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीमें परमात्मभावना करके। (पं०) पहले समझते थे कि वैकुण्ठनाथ सबसे बड़े हैं; अब जाना कि ये सबसे बड़े हैं, अतः 'रघुवीर' को हृदयमें रखना कहा। दूसरे भुशुण्डिजीने कहा था कि *'प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही।'* (१२३। ३) अतः रघुवीरको हृदयमें धारण किया। (रा० शं० श०)]

वि० त्रि०—*'गिरिजा संत समागम……'* इति। (क) *'गिरिजा'* सम्बोधनसे ही इस कथाका उपक्रम किया था। यथा—*'गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग पासा॥ अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गएउ काग पहिं खगकुलकेतू॥'* (५८। १, २) अब उसी सम्बोधनके साथ उपसंहार करते हैं। (ख) *'न लाभ कछु आन'*, क्योंकि *'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥'* (१। ३। ५—७) *'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* (ग) *'बिनु हरि कृपा न होइ सो'*— भाव कि कोई काल या देश ऐसा नहीं है जहाँ संत दुर्लभ हों, यथा—*'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥'*; पर उनसे भेंट नहीं होती। निकट रहते हुए भी पता नहीं चलता कि अमुक व्यक्ति संत हैं। जब भगवान्‌की कृपा होती है तभी उनसे संग होता है, मनमें पश्चात्ताप होता है, आश्चर्य होता है कि इतने दिनोंतक इन्हें क्यों नहीं जाना। अतः जब सत्संग हो तो हरिकृपा समझनी चाहिये। (घ) *'गावहिं बेद पुरान'*—वेद स्वतः प्रमाण हैं और पुराण परतः प्रमाण हैं; उनका कहना अभ्रान्त सत्य है। वे ही कल्याणका मार्ग दिखानेवाले हैं।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥ १॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजै प्रीति रामपद कंजा॥ २॥
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥ ३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—) मैंने परम पवित्र इतिहास कहा, जिसे कानोंसे सुनते ही भवपाश (संसारबन्धन) छूट जाता है॥ १॥ शरणागत लोगोंके कल्पवृक्ष और करुणाकी राशि श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें प्रीति उत्पन्न होती है॥ २॥ जो कथाको मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, वचन और कर्म तीनोंसे उत्पन्न पाप जाते रहते हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) *'कहेउँ'* से इतिहासकी समाप्ति सूचित की। (ख) *'परम पुनीत इतिहासा।'* भुशुण्डि-गरुड़-संवाद इतिहास है। *'परम पुनीत'* पद देकर इतिहासका उपसंहार किया। *'सुनहु परम पुनीत इतिहासा।'* (५५। ८) उपक्रम है।—भाव वहीं देखिये। पुनः परम पुनीतता आगे भी दिखाते हैं—*'सुनत श्रवन……'* से *'सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई'* तक (प्र० सं०)। *'इतिहासा'* बहुवचनका प्रयोग किया; क्योंकि इसमें भगवत्-भागवत दोनोंका इतिहास है। अथवा, और अवतारोंके चरित पुराण हैं, श्रीराम और श्रीकृष्णके चरित रामायण और महाभारत इतिहास हैं। जिससे पाप कटे वह पुनीत और जिससे भवबन्धन कटे वह परम पुनीत है (वि० त्रि०)। (ग) *'सुनत श्रवन'* से साधन-सौकर्य कहा। इससे बढ़कर सुभीता और क्या होगा कि केवल कानसे सुना करे और फल इतना बड़ा कि भवपाश छूट जाय (वि० त्रि०)। (घ) *'सुनत श्रवन'* यहाँ कहा और आगे बताते हैं कि किस प्रकार सुननेपर भवपाश छूटेगा—*'सुनहिं……मन लाई'*, मन लगाकर सुनेगा तब।

२—*'प्रनत कल्पतरु……'* इति। (क) *'कल्पतरु'* के भाव पूर्व आ चुके हैं। संक्षेपमें भाव यह है कि प्रभु न तो किसीके सम्मुख हैं न विमुख, जो भी शरणमें जाता वा प्रणाममात्र करता है उसके अभीष्टको वे पूरा करते हैं, उनके समीप जानेभरकी देरी है उनके देनेमें देर नहीं। 'करुणापुञ्ज' का भाव कि शीघ्र द्रवीभूत हो जाते हैं, किसीका दुःख देख नहीं सकते, तुरत उसका दुःख दूर करते हैं। यथा—*'करुनामय*

रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥' (२। ८५। १) (ख) ***'उपजै प्रीति रामपदकंजा'*** इति। उपक्रममें भी यही कहा है, यथा—***'उपजै रामचरन बिस्वासा।'*** (५५। ९) दोनों एक ही हैं, क्योंकि बिना विश्वासके भक्ति वा प्रीति नहीं होती। यथा—***'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'*** (८९। ७) ***'बिनु बिस्वास भगति नहिं।'***

३—***'मन क्रम बचन जनित अघ'***, यथा—***'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥'*** (अ० १६७। ७) देखिये। मन-वचन-कर्मके पाप पूर्व आ चुके हैं। पुनः, मनके पाप तृष्णा, क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि। वचनके निन्दा, कठोर वचन इत्यादि। कर्मके चोरी, लम्पटता इत्यादि।

रा० शं०—***'सुनत श्रवन छूटहिं'*** यह लाभ सबको है। भक्तोंके लिये विशेषता यह है कि उनके स्वार्थ-परमार्थ सब सिद्ध होते हैं, उनको भक्ति मिलती है। और जो मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, कर्म और वचनके पाप छूटते हैं।

वि० त्रि०—इन तीन अर्धालियोंमें क्रमशः तीनों काण्डका फल कहा। ***'सुनत श्रवन छूटै भवपासा'*** से ज्ञानकाण्डका, ***'उपजै प्रीति रामपदकंजा'*** से उपासनाकाण्डका और ***'मन क्रम बचन जनित अघ जाई'*** से कर्मकाण्डका फल कहा। कर्मकाण्ड पापापनोदनके लिये किया जाता है सो कथाश्रवणमात्रसे निवृत्त होता है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ ४॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ ५॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ ६॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ ७॥
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहूँ एक पाई॥ ८॥

अर्थ—तीर्थयात्रा (आदि) साधन समूह (वा तीर्थयात्रा और उसके साधन समूह), योग, वैराग्य और ज्ञान तीनोंमें निपुणता॥ ४॥ अनेक प्रकारके कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेकों संयम, दम, जप, तप और यज्ञ॥ ५॥ प्राणीमात्रपर दया, द्विज और गुरुकी सेवा, विद्या, विनम्रता, विवेक और बड़ाई॥ ६॥ इत्यादि जहाँतक साधन वेदोंने बखान किये हैं, हे भवानी! उन सबका फल भगवद्भक्ति है॥ ७॥ वह श्रुतियोंकी गायी हुई रघुनाथजीकी भक्ति श्रीरामजीकी कृपासे ही किसी एक आधने पायी है॥ ८॥

खर्रा—***'बिद्या बिनय बिबेक'*** तीनोंमें बड़ाईकी अन्वय है।

नोट—१ वसिष्ठजीने ४९ (१—८) में लगभग यही सब कहा है। वहाँ 'जप[१], तप[२], नियम[३], जोग[४], निजधर्मा[५], श्रुति-संभव नाना[६] कर्मा, ज्ञान[७], दया[८], दम[९], तीरथ[१०] मज्जन, जहँ लगि धर्म कहत श्रुति[११] सज्जन, आगमनिगमपुराणके[१२] पाठ, इत्यादिको कहकर उनका फल ***'तव पद पंकज प्रीति निरंतर'*** बताया, वैसे ही यहाँ तीर्थाटन[१०], जोग[४], बिराग, ज्ञान[७], नाना कर्म[५], धर्म[५], व्रत[११], दान[८], संजम[३], दम[८], जप[२], तप, मख नाना[६], ***'जहँ लगि साधन[१२] बेद बषानी'*** विद्या इत्यादिका फल हरिभक्ति बताया। जो भाव वहाँ है वही यहाँ जानिये। २—***'रामकृपा काहूँ एक पाई'*** अर्थात् सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, अत्रि, शंकरजी, ब्रह्माजी, भुशुण्डि इत्यादिने पायी वह भी माँगनेपर प्रभुकी कृपासे ही। यही बात पार्वतीजीने विस्तारसे कथासमाप्तिपर ५४ (१—८) में कही है। ***'नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी'*** से ***'सो हरिभगति—'*** तक।-वहीं विशेष भाव देखिये। ऐसा ही भुशुण्डिमत है—***'जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव।'*** दोहा ८४ में देखिये। समस्त ऋषियों आदिने दर्शन होनेपर भी भक्ति ही माँगी है।

वि० त्रि०—१ (क) ***'तीर्थाटन साधन समुदाई'***—जीवको तारता है, इसीलिये तीर्थ कहलाता है। सब लोग तीर्थयात्रा संसार-सागरसे तरनेके लिये करते हैं, परंतु तीर्थका फल सबको नहीं होता, जो तीर्थोचित साधनके साथ यात्रा करता है, उसीको यात्राका फल मिलता है। संक्षेपमें उन साधनोंका वर्णन रामवनयात्रा-प्रकरणमें श्रीभरतजीद्वारा दिखलाया है। यथा—***'सहित समाज साज सब सादे। चले राम बन अटन पयादे॥'*** (२। ३११। ३) से दोहा ३१२ तक। (ख) ***'जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।'*** इति। किसी विषयमें निपुणता तभी होती है जब उसके विरोधी विषय अच्छे न लगें; यथा—***'अति नय निपुन न भाव अनीती।'*** अतः

योग, वैराग्य और ज्ञानमें वही निपुण है जिसे राग, वैषम्य और बहिर्मुखता अप्रिय हो। (ग) *'बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई'* इति। विद्यासे ही विनय होता है, विनयसे पात्रता होती है, पात्रतासे धन, धनसे धर्म और धर्मसे सुख होता है। विद्यासे ही विवेक होता है। यथा—*'बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये॥'* (ख) *'सब कर फल हरिभगति'*—भाव कि साधन तो इतने हैं, और सिद्धि एक है। वह सिद्धि फलरूपा हरिभक्ति है। यदि साधनोंसे हरिभक्ति न हुई तो श्रममात्र हुआ। कथाश्रवणसे तीनों काण्डकी फलसिद्धि कह आये, अब भक्तिमें सबका पर्यवसान करते हैं।

२ *'सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई……'* इति। भाव कि वेदान्तशास्त्र, उपनिषद् आदि उपासनाओंसे ही भरे पड़े हैं और वे उपासनाएँ मुख्यतः सगुण ब्रह्मकी ही हैं। मन्त्रभागमें भी उपासना-ही-उपासना है।

दो०—मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहि मानि बिस्वास॥१२६॥

अर्थ—जो मनुष्य विश्वास मानकर यह कथा निरन्तर सुनते हैं वे बिना परिश्रमके वह हरिभक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो मुनियोंको भी दुर्लभ है॥ १२६॥

नोट—१ *'मुनि दुर्लभ'* यथा—*'जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥'* (८५। ४) देखिये। इससे जनाया कि जैसी भक्ति भुशुण्डिजीको मिली वैसी उनकी कथाके विश्वासपूर्वक निरन्तर श्रवणसे सहज ही प्राप्त हो सकती है। मुनियोंको परिश्रम करनेपर भी कहीं ही मिलती है, भुशुण्डिजीको भी परिश्रम हुआ और कथाके श्रोताको सहज है। २—शर्त एक तो यह है कि *'मानि बिस्वास'* सुने। विश्वास कैसे हो। इसका उपाय प्रारम्भमें बता आये। इस कथाके ही सुननेसे *'उपजइ रामचरन बिस्वासा'* तब विश्वाससे सुनेगा, उससे भक्ति प्राप्त होगी। ३—दूसरी शर्त है कि *'निरंतर'* सुने अर्थात् नियमपूर्वक। कथाकी प्यास सदा बनी रहे।

सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥१॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता॥२॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धांत नीक तेहिं जाना॥३॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥४॥

शब्दार्थ—गुनी (गुणी)=गुनवान्।=जो दैव या मानुष शिल्पका जानकार हो, यथा—*'जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।', 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना', 'पूछा गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।'* (वि० त्रि०)। ज्ञाता=नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ—इन चारों ज्ञेयोंका जिसे ज्ञान हो।

अर्थ—जिसका मन रामचरणमें अनुरक्त है (यथार्थ) वही सर्वज्ञ है, वही गुणवान् है, वही ज्ञानवान् है, वही पृथ्वीका भूषण है, पण्डित है, (वा, पृथ्वीभरमें शोभित है), दानी है। वही धर्मपरायण है और वही कुलका रक्षक है। जो छल छोड़कर रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करे॥ १-२॥ वही नीतिमें कुशल है, उसीने श्रुतियोंका सिद्धान्त भली प्रकार (यथार्थ) जाना है॥ ३॥ वही कवि है, वही कोविद है, वही रणधीर है॥ ४॥

नोट—१ (क) महिमंडित (पृथ्वीका भूषण) कहनेका भाव कि जिस पृथिवीपर वह विचरता है वह पवित्र और सुन्दर गिनी जाती है। (पं०)। महिमंडित पंडित=सार्वभौम शास्त्रज्ञ। (वि० त्रि०)। महिमंडित पदका अनुवर्तन *'दाता'* के साथ भी होगा। अर्थात् सर्वोपकारी दानवीर। धर्माचरणसे भगवच्चरणोंमें अनुराग न हुआ तो वह व्यर्थ है और यदि अनुराग हुआ तो वह पापी होनेपर भी सद्यः धर्मानुरागी हो जायगा। प्रभुका वाक्य है कि *'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'* (वि० त्रि०)। *'कुल त्राता'* है, क्योंकि भगवद्भक्त हो जानेसे पितृ तर जाते हैं। पुत्रकी उत्पत्ति इसीलिये की जाती है कि वह नरकसे बचावे। श्रीराम-चरणानुरागसे वह भी हो जाता है और पितृ भवबन्धनसे विमुक्त भी हो जाते हैं, इसीसे रामानुरागीको

कुलत्राता कहा। ध्वनित अर्थ यह भी है कि यदि पुत्र कुपुत्र हुआ तो वह कुलका नाशक ही होता है; यथा—'*जिमि कपूतके उपजें कुल सद्धर्म नसाहिं।*'(४। १५) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं—रामभक्त कुलत्राता कैसे होता है? इसके लिये एक विशेष कारण यह है कि 'नौ धन्योंमें उस कुलकी भी गिनती है जिसमें भक्त जन्म ग्रहण करता है।' (ये नौ धन्य आगे गिनाये गये हैं—चौ० ५ से दोहा १२६ तक)।

पं० रा० व० श०—१ (क) '*राता*'। यह '*रंज रागे*' धातुसे है। सं० रक्त। अर्थात् भीतर-बाहर रामचरण-प्रीतिका रंग रँग गया हो। '*नीति निपुन*'—यहाँ नीतिसे धर्मनीति अभिप्रेत है न कि राजनीति। याज्ञवल्क्यजी शुद्धिका प्रकरण लिखते हुए जीवकी शुद्धि ईश्वरके ज्ञानसे बताते हैं—'**क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धिः, ईश्वरज्ञानात्**' इत्यादि। [धर्मका किसी प्रकार उल्लङ्घन न हो, धर्माविरोधी अर्थ और धर्मार्थाविरोधी कामका सेवन करते चलना, संक्षेपमें यही नीति है; पर ऐसी नीतिका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। अतः जिस मार्गसे भगवत्प्राप्ति हो, उसीका अवलम्बन करना नीतिकी निपुणता है। यथा—'*उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृतिकर निंदा॥ जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ परमात्मा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥ तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥*' (४८) (वि० त्रि०)] (ख) '*परम सयाना*'—भाव कि जगत्की चतुराईमें सयाना सयाना नहीं है, जिस कार्यके लिये शरीर मिला है वह कार्य सिद्ध कर लेना ही सयानपन है। (ग) '*श्रुतिसिद्धान्त।*' भगवान्ने कहा है कि वेदके कर्त्ता हम हैं, हमारा ही प्रतिपादन वेदमें है, जिसने हमको जान लिया उसने सब जान लिया। ['*श्रुतिसिद्धान्त नीक तेहि जाना*'—भाव कि यही श्रुतिसिद्धान्त है, यथा—'*श्रुतिसिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥*' (१२३। २) देखो। मिलान कीजिये—'*सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥*' (४९(७-८)]

वि० त्रि०—'*सोइ कबि कोबिद*' इति। वाणीकी चार अवस्थाएँ हैं-परा, यथा—'*भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥*' पश्यन्ती यथा—'*चितै पितहि दीन्हउ दृढ़ ज्ञाना*', मध्यमा यथा—'*मानस ते मुखपंकज आई*' और बैखरी यथा—'*भा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू।*' कवि-कोविद जाने या बिना जाने वर्णनके समय वाणीका स्मरण करते हैं। स्मरण करनेपर परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमामें अवतरित होती हुई वैखरीरूपमें प्रकट होती है। उस वाणीको हरियशगानमें ही विश्राम मिलता है। पापमें डूबे हुए जीवोंके चरितका वर्णन उससे करवाना सरस्वतीको रुलानेके समान है। यथा—'*भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥ कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी॥ कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिरधुनि गिरा लगत पछिताना॥*' (१। ११। ४—७) अतः वाणीको दुःख देनेवाला कवि कोविदपदके योग्य नहीं।

पं०—रणधीर-पद यहाँ इस विचारसे कहा कि भगवान्ने गीतामें योद्धाकी गति योगियोंकी गतिके तुल्य कही है। अथवा, '*रनधीर*' से विषयरूपी शत्रुका जीतनेवाला जनाया। संत तो सभी श्रेष्ठ हैं पर जिनपर सत्सङ्गकी छाया पड़ी वे भी धन्य हैं; उन्हींको आगे कहते हैं।

नोट—३ श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। जो काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीत ले वही रणधीर है। जो निष्काम भावसे भगवान्का भजन करता है वही कामादि शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होगा। देखिये रावण जगद्विजयी वीर था पर कामादि शत्रुओंके वशमें ही रहा। विभीषणजीके उचित मन्त्र देनेमें उनको लात मारी और उसी बातको मन्दोदरीने अति कठोर शब्दोंमें चार-चार बार कहा और वह ऐंठकर रह गया, उससे कुछ करते न बना। 'छल छाँड़ि'=निष्काम होकर। फलान्तरकी आशा करके सेवा करना स्वार्थ है, छल है। प्रह्लादजीने कहा है कि जो सेवक आपसे कामनाओंकी पूर्तिकी इच्छा रखता है वह तो सेवक नहीं किंतु लेन-देन करनेवाला कोरा व्यापारी है। यथा—'**यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।**'(भा० ७। १०। ४) '**आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।**' क्योंकि उसने तो भगवान्को मानो अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका साधन ठहराया है।

नोट—भाव यह है कि रामचरणानुरागविहीन मनुष्य सर्वज्ञादि होते हुए भी उन विशेषणोंके योग्य नहीं

है और यदि श्रीरामचरणानुराग हो और ये कोई गुण न भी हों तो भी वह अनुरागी इन विशेषणोंके योग्य है। सच्चा सर्वज्ञ आदि वह अनुरागी ही है।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रतअनुसरी*॥ ५॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥ ६॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी॥ ७॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा॥ ८॥

अर्थ—वह देश धन्य है जहाँ गङ्गाजी हैं, वह स्त्री धन्य है जो पतिव्रत-धर्मका अनुसरण करे (अर्थात् उसपर चले)॥ ५॥ वह राजा धन्य है जो नीतिका पालन करता है। (अन्याय नहीं करता)। वह ब्राह्मण धन्य है जो धर्मसे नहीं टलता॥ ६॥ वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति होती है, पुण्यमें परिपक्व लगी हुई बुद्धि ही धन्य है और वही बुद्धि पक्की (दृढ़ एवं तत्पर) है॥ ७॥ वही घड़ी धन्य है जिसमें सत्सङ्ग हो। वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मणकी अखण्ड भक्ति हो॥ ८॥

नोट—१ (क) सुरसरि पुनीत हैं, इनके चरित मनोहर हैं, ये पाप तथा विविधतापनाशिनी हैं। अतः जहाँ ये हैं वह देश भाग्यवान् है। क्योंकि वहाँके वासी प्रभुके नखसे निकली हुई गङ्गाके '***दरस परस मज्जन***' से कृतार्थ और पावन होते हैं। स्वामी शंकराचार्यजीने भी इनकी महिमा कही है। यथा—'**गङ्गाजललवकणिका पीता**……।' गङ्गाजीकी महिमा सब जानते हैं। बाल-अयोध्यामें भी कही गयी है। (ख) पतिव्रताके धर्म अनुसूया-सीता-मिलनमें देखिये। धन्य क्योंकि '***सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभगति लहइ***', '***बिनु श्रम नारि परमगति लहई***'-आ० ५ (१८), आ० ५ देखिये। पतिव्रतासे पति और पिता दोनोंके कुल पवित्र होते हैं, यथा—'***पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।***' पतिव्रता स्वाभाविक ममतासे ही तरण-तारण हो जाती है और भगवान्‌को प्रिय है, अतः धन्य है।

२ '***धन्य सो भूप नीति जो करई।***' इति। (क) नीति करना यह है कि प्रजाको पुत्रवत् पाले—'**प्रजा रक्षति पुत्रवद्**' प्रजा उसे प्राणप्रिय हो। जो ऐसा नहीं करता वह शोचनीय है। यथा—'***सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥***' (२। १७२। ४) राजाको चाहिये कि प्रजाका धन उसके काममें लगावे, चारों नीतियोंका यथार्थ पालन करे, इत्यादि। केवल नीतिपूर्वक आचरण करनेसे वह धन्य होता है अन्य साधनोंसे नहीं, यह सूचित किया। (पं० रा० व० श०, वि० त्रि०)। (ख) '***द्विज निज धर्म न टरई***'—ब्राह्मणोंमें तप और श्रुत दोनों होने चाहिये, बिना इन दोनोंके उसका ब्राह्मणत्व ही पूरा नहीं होता। अतः श्रोत्रिय और तपस्वी ब्राह्मण धन्य है, अशोच्य है। यथा—'***सोचिअ बिप्र जो वेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना॥***'

३—धनकी तीन गतियाँ कही गयी हैं—दान, भोग और नाश। जो धन परोपकारमें लगाया जाय, दानमें दिया जाय, वह पूर्ण सफल है, यह सर्वोत्तम गति उस धनकी है, क्योंकि '***येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान।***' धन होनेका जो मुख्य आदेश है वह सफल हुआ, उसकी उत्तम गति हुई और जिसके पास वह था उसकी भी सद्‌गति हुई, अतः वह धन्य कहा गया। जो अपने शरीरके काममें आवे वह मध्यमगतिवाला है और जो न दानमें ही लगा न अपने भोगनेमें ही आया वरन् नष्ट ही हुआ वह निकृष्ट है। श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—'**दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥**'

४—'***मति सोइ पाकी।***' भाव कि वही बुद्धि श्रेष्ठ है।—परिपक्व मति पुण्यमें हो अर्थात् मन-कर्म-वचनसे पवित्र हो। (करु०, वै०)। ['***पक्की पुण्यरत मति***'=जिसमें फलाभिकांक्षाकी कचाई न हो। जिसे फलकी इच्छा है उसकी मति कच्ची है। यथा—'***करइ जो धर्म कर्म मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ग्यानी॥***' इससे कर्मयोग कहा (वि० त्रि०)]

---

* इस अर्धालीमें दोनों चरणोंमें १५, १५ मात्राएँ हैं। पूर्व ८४ (४), १११ (१५), ११७ (४), १२१ (३३), १२२ (४); १२२ (१०), १२५ (२, ३) में भी मात्राओंकी कमी है। मात्राओंकी न्यूनताके भाव पूर्व कई बार काण्डमें लिखे जा चुके हैं, वैसे ही पाठक यहाँ भी लगा लें। (प० प० प्र०)।

५—(क) सत्संगकी घड़ी धन्य है, क्योंकि लवमात्र सत्संगका सुख स्वर्ग-अपवर्ग सुखसे भी अधिक है तब घड़ीभर सत्संगके भाग्यका क्या कहा जाय? (प्र० सं०)। पुनः, सत्संग ही सब पुरुषार्थोंका समानरूपसे साधन है, यथा—*'संतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा॥'* अतः सत्संगकी घड़ीको धन्य कहा। यहाँ काल कहा, *'धन्य सो देस'* में देश कहा गया है। (वि० त्रि०)। (ख) *'धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा'*-ब्राह्मणमें अटलभक्ति होनेसे ही जन्म धन्य है, क्योंकि ब्राह्मणभक्तिमूलक ही कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड हैं। यथा—*'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥'* इस भाँति अन्य वर्णोंके ब्राह्मण पूज्य हैं। यद्यपि प्रधानतः 'द्विज' शब्दसे ब्राह्मणका ग्रहण होता है तथापि क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज हैं और शूद्रके लिये विधान है कि ब्राह्मणकी शिव-बुद्धिसे, क्षत्रियकी विष्णुबुद्धिसे और वैश्यकी ब्रह्मा-बुद्धिसे सेवा करे। अतः यहाँ शूद्रधर्म भी कहा। *'सो धन धन्य'* में वैश्यधर्म कहा गया है। (वि० त्रि०)

६ ☞ यहाँ बताया कि धन्य कौन हैं और ठीक इसीका उलटा अ० १७२ में बताया है कि ये ही कब शोचनीय हैं? मिलान करनेसे भाव भी स्पष्ट हो जायँगे। भाव वहाँ पाठक देख लें। मिलान—

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना॥	**१ धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।**
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥	**२ धन्य सो भूप नीति जो करई।**
सोचिय बयसु कृपिन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥	**३ सो धन धन्य प्रथम गति जाकी**
सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी……।	**४ धन्य जनम द्विज भगति अभंगा**
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी……।	**५ धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी**
पर अपकारी, पिशुन, अकारण क्रोधी। तनुपोषक निर्दय मातु पिता गुरु बंधु बिरोधी॥	**६ धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी**
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥	**७ जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा। सो कुल धन्य……श्रीरघुबीर परायन**

दो०—सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥ १२७॥

अर्थ—हे उमा! सुनो वह कुल धन्य है, जगत्पूज्य है, परम पवित्र है जिसमें श्रीरघुबीरानुरागी विनम्र स्वभाववाला मनुष्य पैदा हो*॥ १२७॥

नोट—१ *'सो कुल धन्य जेहि……'* यथा—*'धन्य धन्य माता पिता धन्य पुत्रबर सोइ। तुलसी जो रामहि भजै जैसहु कैसहु होइ॥'*—(वैराग्यसन्दीपिनी)। इससे जनाया कि यहाँ वर्णाश्रमका कोई भेद वा विचार नहीं है। अधमाधम ही वर्ण क्यों न हो, यदि एक भी भगवत्-परायण भक्त उसमें उत्पन्न हो गया तो वह अन्य उच्च वर्णोंसे ही नहीं वरन् देवतादिसे भी पूजनीय हो जाता है और पावन है। इसमें यह भी जनाया कि कैसा ही उच्च कुल क्यों न हो, जगत्में, उसका यश ख्यात क्यों न हो तो भी भक्तिहीन होनेसे वह कुल न तो जगत्पूज्य है और न सुपुनीत ही है। यथा—*'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥'*(वै० सं० ३८) *'अति ऊँचे भूधरनि पर भुजंगन के अस्थान। तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान॥'* ३९॥……*जदपि साधु सबही बिधि हीना। यद्यपि समता के न कुलीना॥ यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि में जरै॥ ४१॥'*† पुनः भाव कि अन्य (ब्राह्मण, देवता इत्यादि) कुल पूज्य और पुनीत हैं और भक्तिपरायण प्राणीवाला नीच

---

* पं०—अर्थ है कि 'श्रीरामपरायण जो संत हैं उनमें जिस कुलके लोगोंको प्रीति और नम्रता उपजे वह कुल धन्य है'।

† 'एकाङ्गसङ्गिनी गङ्गा पावयेदखिलं जगत्। अङ्गप्रत्यङ्गसंव्यापि नाम किं कर्तुमक्षमम्॥' पुनश्च यथा—'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या। स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥' (पद्मपु०)

कुल जगत्-पूज्य और सुपुनीत है। वे अपनेको ही पावन कर सकते हैं और यह जगत्को भी पावन करनेवाला है।-(करु०-विनीत अर्थात् आर्त्त और दीन)।

वि० त्रि०—(क) *'जगत पूज्य सुपुनीत'*—जगत्पूज्यता और पवित्रता कुलपर निर्भर नहीं करती, अच्छे और बुरेकी उत्पत्तिसे कुल पवित्र और अपवित्र होता है। यथा—*'उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप। तदपि महीसुर साप बस भये सकल अघ रूप॥'* (ख) *'श्रीरघुबीर परायन—'* भाव कि रामभक्त ही धर्मपरायण और कुलत्राता होता है। उसीसे कुलकी रक्षा होती है। यथा—*'पितर पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लै पार।'*, *'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥'* जो विनीत नहीं है वह श्रीरघुवीर-परायण भी नहीं है। रामपरायणताका प्रधान लक्षण विनय है। यथा—*'अहंकार की अगिनि में दहत सकल संसार। तुलसी बाँचे सन्तजन केवल सांति अधार॥ जहाँ साँति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जरि जरि गई॥'*

जिस भाँति गङ्गाजीके होनेसे 'देश' धन्य, पवित्रतासे 'स्त्री' धन्य, इसी भाँति श्रीरघुवीर-परायण विनीत पुरुषके उत्पन्न होनेसे 'कुल' धन्य होता है। जिस भाँति अपने धर्ममें अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्पूज्य होता है, उसी भाँति वह कुल भी जगत्पूज्य है। जैसे दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे घड़ी और द्विज-भक्तिसे शूद्र पुनीत होता है, वैसे ही भक्तसे वह कुल पुनीत होता है।

शंकर भगवान्ने *'धन्य धन्य'* कहकर कथा प्रारम्भ किया था। यथा—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥'* (१। ११२। ६) अब भी धन्य-धन्य कहकर कथा समाप्त करते हैं। प्रारम्भमें भी गङ्गाका उल्लेख था। यथा—*'पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥'* (१। ११२। ७) वैसे ही समाप्तिमें भी गङ्गाका उल्लेख हो रहा है—*'धन्य सो देस जहँ सुरसरी।'*

(कथाके अधिकारी)

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ १॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब* मैं रघुपति कथा सुनाई॥ २॥

अर्थ—मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कथा कही। यद्यपि मैंने पहले गुप्त कर रखी थी॥ १॥ जब मैंने तुम्हारे मनमें (कथापर) प्रीतिकी अधिकता देखी तब मैंने तुमको रघुनाथजीकी कथा सुनायी॥ २॥

नोट—१ *'मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु।'* (बा० १२०) उपक्रम है और *'मति अनुरूप कथा मैं भाषी'* उपसंहार है।—(बा० १२० देखिये)। २—*'जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी'*, यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'* (बा० ३५। ११) ☞इससे यह दिखाया कि यह कितना गोप्य पदार्थ है। सबके सामने इसका फेंकना उचित नहीं है।

वि० त्रि०—भगवान् शङ्कर रामभक्तिके भण्डारी हैं। इनकी कृपाके बिना न भगवद्भक्ति मिलती है, न भगवच्चरण और न भगवत्-कथा। यथा—*'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।'* (४५) *'जे हर हृदय कमल महँ गोए।'*, *'पुनि रघुपतिपद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद'*, *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा'*, *'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा'*, *'रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥'*

नोट—*'तव मन प्रीति देखि……'* यथा—*'जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी।'* (१। १०८। १) से *'प्रश्न उमा के सहज सुहाई।'* (१११। ६) तब फिर, *'बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेम रससानि।'* (बा० ११९) से *'उमा बचन सुनि परम बिनीता। राम कथापर प्रीति पुनीता॥'* (१२०। ८) *हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान॥'* (१२०) तक।

यह न कहिय† सठही हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहिं॥ ३॥

---

* तव-रा० गु० द्वि०। तव-(का०)। तौं-(भा० दा०)।

† 'नहि कहिय सठहि'—(करु०)। 'कहीजे सठ'—(का०)।

कहिय न लोभहि क्रोधिहि कामिहिं। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥ ४॥
द्विज द्रोहिहिं न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप तबहूँ*॥ ५॥

शब्दार्थ—सठ (शठ)=मन्द बुद्धि जो वचनोंको सुरस नहीं समझते। (पं०)।=जिसकी सुपथमें बुद्धिविद्यादि व्यय नहीं। (रा० प्र०)।=जो हानि पहुँचाते और मीठी बातें करके अपनी करनीको छिपाना चाहे, ऐसे कपटीको शठ कहते हैं। (वि० त्रि०)। **हठसीलहि**=हठ जिसका स्वभाव है। **दुराग्रही**।=हठी और कुशील (करु०)।

अर्थ—इसे शठसे, दुराग्रही हठी स्वभाववालेसे, जो हरिलीलाको मन लगाकर नहीं सुनते उनसे न कहना चाहिये॥ ३॥ लोभी, क्रोधी और कामीसे न कहे कि जो सचराचर स्वामी श्रीरामजीको नहीं भजते॥ ४॥ द्विजद्रोहीको, चाहे वह इन्द्रके समान राजा ही क्यों न हो तब भी, कभी न सुनाना चाहिये॥ ५॥

नोट—१ इन तीन अर्धालियोंमें अनधिकारीके लक्षण कहे। पार्वतीजीने भी अनधिकारी और अधिकारी कुछ गिनाये हैं—बा० ११० (१—३) *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।——'* देखिये। मिलान कीजिये—

'रामभगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥' ११२ (१३)
अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥ बा० ३८ (३)
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥ ,, (५)

२—(क) लोभी=जिसका मन धन बटोरने और उसकी रक्षामें ही लगा रहता है, कथामें जानेपर भी मन उसका न लगेगा। क्रोधी=जो अपने जामेमें ही नहीं रहता। कामी होनेसे और भी दुर्गुण लोभ, क्रोध आप ही आ जाते हैं। (रा० प्र०)। लोभी, क्रोधी और कामी परधन, परद्रोह और परदाराका भजन करते हैं, नरकपथके पथिक हैं। ये दूसरे समाजके लोग हैं। इनके इष्टदेव मोह हैं। ये भी हरिकथा मनसे न सुनेंगे और उपद्रव उठावेंगे। यथा—*'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।'* (१। १८३) (वि० त्रि०)। ☞इनको सुनाना ऊसरमें बीज बोना है, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* (ख) *'न भजइ सचराचर स्वामी'* में भाव कि चराचर नायकका भजन नहीं करता इससे वह चराचरमात्रका विरोधी जान पड़ता है। (करु०)

वि० त्रि०—*'सचराचर स्वामी'* इति। यहाँ नाम न देनेमें भाव यह है कि नामपर आग्रह नहीं है, चराचरके स्वामीके भजनपर आग्रह है; हम सचराचर-स्वामीको राम, रघुपति, हरि इत्यादि कहते हैं, दूसरे उनको यदि वासुदेव, महालक्ष्मी, सदाशिव कहते हों और भजन करते हों तो भी अधिकारी हैं। जो जीवका भजन करते हैं वे अधिकारी नहीं हैं।

नोट—३ 'द्विजद्रोही अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसको प्रभुके वाक्य—कि द्विज मेरी मूर्ति हैं, पूज्य हैं—अच्छे न लगेंगे। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, यह उसे नहीं भाता। *'सुरपति सरिस'* अर्थात् संसारभरमें सबसे बढ़कर ऐश्वर्य भोग-विलासको भी जो प्राप्त हों। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि उसके अधिकारका भय न करे अथवा कृपाका लोभ न करे। इन्द्रने सौ यज्ञ किये, सो उसके याज्ञिक होनेका भी कोई विचार न करे। (वि० त्रि०)।

नोट—यह अधिकारी-अनधिकारी-निर्णय कुछ-कुछ उससे मिलता है जो (भा० ११। २९) में श्रीउद्धवजीसे भगवान्ने कहा है—

१	१ ३
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।	**यह न कहिय सठही हठसीलहि**
२ ३	२
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०॥	**जो मन लाइ न सुनु हरिलीलहि**
४ ५	४ ५ ४
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।	**गुरुपदप्रीति नीतिरत जेई**

* 'जबहूँ'—रा० गु० द्वि०।

५

साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥ ३१॥ द्विजसेवक अधिकारी तेई। जिनके सत्संगति अति प्यारी

(अधिकारी)

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥ ६॥
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥ ७॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥ ८॥

अर्थ—रामकथाके वही लोग अधिकारी हैं जिनको सत्संगति अत्यन्त प्रिय है॥ ६॥ जो गुरु-चरणानुरागमें तत्पर हैं, नीतिमें तत्पर हैं और जो द्विजसेवक हैं वे ही अधिकारी हैं॥ ७॥ जिसको श्रीरघुनाथजी प्राणोंके समान प्रिय हैं। उसको तो यह बहुत ही सुख देनेवाली है॥ ८॥

वि० त्रि०—१ *'तेइ अधिकारी'* इति। तीन प्रकारके अधिकारी कहकर अब तीन प्रकारके अनधिकारी कहते हैं। अधिकारीके लिये ही विषय-निरूपण होता है, परंतु ग्रन्थका निर्माण होनेपर तो वह अधिकारी-अनधिकारी सबके हाथ पड़ता है। तथापि लाभ उससे अधिकारी ही उठा सकते हैं, अनधिकारी उससे लाभ उठानेमें सर्वथा असमर्थ रहते हैं। यथा—*'प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी। कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥'*

२—गुरुपद-प्रीति होनेसे जाना गया कि वह परमार्थ-पथका पथिक है। गुरुपद-प्रेमी प्रभुको प्रिय है, यथा—*'गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।'* (३। ३५) ""*'सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।'* (३। ३६। ७) नीतिरत भी प्रिय है, यथा—*'नीति बिरोध सोहाइ न मोही।'* जो नीतिरत होगा वह गुरुभक्त भी होगा, फिर भी दोनोंको पृथक्-पृथक् गिननेका कारण गुण-विशेषका प्राधान्य है, एकमें गुरु-भक्तिकी प्रधानता है, दूसरेमें नीति-निपुणताकी। द्विजसेवक भी प्रभुको प्रिय है, द्विजद्रोही नहीं। यथा—*'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही। मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'* (३। ३३)

३—परमार्थ-पथके पथिकको छोड़कर दूसरा द्विजसेवक नहीं हो सकता। अभिमानी कभी दरिद्र-दीन ब्राह्मणको बड़ा नहीं मान सकता, ऐसा करनेपर उसे ईश्वरके न्याय तथा समदर्शितामें दोष दिखायी पड़ने लगेगा। जो अभिमानरहित नहीं है वह शापत ताड़त परुषवक्ताको पूज्य कैसे मानेगा? जो ईश्वरको कर्म-फलदाता नहीं मानता वह शील-गुणहीन ब्राह्मणपर पूज्यदृष्टि कैसे रख सकेगा? अतः द्विज-सेवक ही इस कथाका अधिकारी है। द्विजसेवक रामभक्त होगा और विप्रद्रोहीके घर रावणकी डायरी निकलेगी। वह रावणके गुणोंपर मुग्ध होगा।

'बिसेषि सुखदाई' का भाव कि यह हास्यरूपसे तो खलको भी सुख देती है पर यथार्थरूपसे सज्जनोंको ही सुख देती है और जिसे श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, उसे यह विशेष सुख देती है। यथा—*'हरिहरपद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥', 'श्रवनामृत जेहि कथा सोहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥'*

पं० रा० व० श० १—*'ता कहँ'* यह एकवचन दिया, क्योंकि रामरूप और रामनामको परात्पर जाननेवाले बहुत नहीं हैं। ब्रह्मकी स्थिति दो प्रकारकी कही गयी है—एक तो यह कि वह अग्राह्य, व्यापक, अगोचर इत्यादि है; दूसरे त्रिपाद विभूतिमें स्थित। उपासक भी दो प्रकारके हैं। मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक तो यह कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवरूप होकर लीन हो जाय। दूसरी यह कि उपासनाभक्ति करके भगवान्‌के नित्य विभूतिमें सम्मिलित हो जाय—ये उपासक सदा कैंकर्य चाहते हैं, जैसा कि कपिलभगवान्‌ने मातासे कहा है। यथा—**'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'** (भा० ३। २९। १३)

नोट—२ सत्संगके प्रेमी, गुरुपदप्रेमी, नीतिरत और द्विजसेवक बहुत होते हैं, और श्रीरघुनाथजी जिसको प्राणप्रिय हों ऐसा कोई-कोई ही होता है। अतः उनके साथ बहुवचन *'जिन्ह' 'जेई, तेई'* का प्रयोग किया और *'प्रानप्रिय श्रीरघुराई'* के साथ एकवचन *'जाहि'* कहा। मिलान कीजिये—

जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई॥ बा० ३९ (८)
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर बर मानस अधिकारी॥ बा० ३८ (२)

अनधिकारी	अधिकारी
द्विजद्रोही	द्विजसेवक
'जो न भजइ सचराचरनायक'	*जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई*
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि	*सदा सुनहिं सादर नर नारी*

☞यहाँ यह दिखाया कि यदि ये गुण हों तो वह अधिकारी है, यद्यपि और प्रकारसे शास्त्र उसे अधिकारी न कहता हो, यथा—*'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥'* (१। ११०। १) देखिये। (भा० १०। १३। ३) **'शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥'** में श्रीशुकदेवजी भी कहते हैं कि मैं तुमसे गोप्य विषय कहता हूँ, क्योंकि स्नेही शिष्यसे गुरु गुह्य रहस्य भी कह देते हैं। *'बिसेष'* का भाव कि अपने इष्ट होनेसे उनके चरित्रमें इनको औरोंसे बहुत अधिक सुख मिलता है।

दो०—रामचरन रति जो चहै* अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवनपुट पान॥१२८॥

अर्थ—जो श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम चाहे अथवा निर्वाणपद (मोक्ष) चाहे वह इस कथा-(रूपी अमृत-) को भाव (प्रेम और श्रद्धा इत्यादि) सहित कानरूपी दोनेसे पिये॥ १२८॥

नोट—१ श्रवणपुटपान—*'श्रवनपुटन्हि मन पान करि।'* (५२) देखिये। 'भावसहित' बहुत बार आया है। २—भक्तलोग *'मुकुति निरादरि भगति लुभाने'* अत: उनको 'रामपदमें रति' मिलती है, यथा—*'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥'* और जो मुक्तिके इच्छुक हैं उनको इसीसे मुक्ति मिलेगी। दो तरहके भक्त हैं, इसलिये दोनों प्रकारके फलकी प्राप्ति बतायी।

वि० त्रि०—(क) परम पुरुषार्थ दो हैं—प्रेमभक्ति और कैवल्यमुक्ति (निर्वाण)। पराभक्तिमें मुक्ति सुख बराबर रहता है पर भक्त मुक्त नहीं होता, उसे भजन ही प्रिय है, मुक्ति नहीं और कैवल्य मुक्तिमें साधक **'ब्रह्म'** ही हो जाता है, विन्दु सिंधु हो जाता है। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने प्रयोजन और सम्बन्ध कहा। रामकथाके ये ही दो प्रयोजन हैं, या तो पराभक्ति या कैवल्य मुक्ति। विषय और प्रयोजनसे साधकसाध्यभाव सम्बन्ध है। साध्य है भक्ति और मुक्ति तथा इन दोनोंका साधक रामकथा है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—भक्त चार प्रकारके होते हैं, वे सब रामचरणरतिके चाहनेवालोंमें ही हैं, ये भक्तिका कुछ फल नहीं चाहते, केवल प्रभुको ही चाहते हैं, अतएव देहावसानपर प्रभुहीको प्राप्त होते हैं, वहाँ सायुज्य मुक्तिके ही भोक्ता होकर रहते हैं, पर यहाँ उनकी फलपर दृष्टि नहीं रहती। दूसरे प्रकारके अधिकारी वे हैं जो योग आदि साधनोंके द्वारा कैवल्यपद चाहते हैं जिसे ज्ञानदीपकके प्रसंगमें कहा है। वे **'अहं ब्रह्मास्मि'** की वृत्तिसे निर्वाण-पद पाते हैं, वे राम-पद-प्रीति-रहित हैं, इससे उन्हें वहाँ भगवत्कैङ्कर्यका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। पुन:, और भी रामपद-प्रीतिरहित राक्षस लोगोंने राम-बाण आदिसे पापमुक्त होकर निर्वाण-पद पाया है।

कथाके सुननेसे पापरहित होकर एवं कैवल्य साधननिष्ठ होनेपर कैवल्यपद भी मिल सकता है। यथा—*'बिबेक पावक कहँ अरनी॥'* (बा० दो० ३१) कहा ही है। इसी तरह गीतामें भी कर्मयोग और सांख्ययोगके दो प्रकारके विधान हैं, उन्हें भी ये ही दो प्रकारकी मुक्तियाँ मिलती हैं—कर्मयोगीको रामचरणरति और सांख्ययोगीको कैवल्यपद।

नोट—२ श्रवण दोना (पात्र) हुआ। पात्रसे जल मुखमें आकर पेटमें जाता है; यही यहाँ सुनकर

* चह—(भा० द०)। चहै—(का०)।

हृदयमें धारणकर मनन करना है। [वीर—यहाँ निरंगरूपक है] मिलान कीजिये—

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ बा० १५ (१०)

होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥ ,, (११)

वि० त्रि०—(क) भावसहित अर्थात् मन लगाकर सुने जिसमें इस कथाकी छाप मनपर पड़े। छाप पड़नेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होगी, नहीं तो कथाश्रवणजन्य पुण्यमात्र होगा। (ख) *'श्रवनपुट पान'*—भाव कि कथा बड़ी है, एक घूँटमें नहीं पी जा सकेगी, इसलिये कानके दोने (प्याले) बनाकर स्वाद ले-लेकर कथामृतका पान करो।

रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥ १॥
संसृतिरोग सजीवनमूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी*॥ २॥

शब्दार्थ—**सूरी** (सं० सूरिन्)—परमार्थज्ञाता विद्वान्, पण्डित, आचार्य।—(करु०)। **'धीमान् सूरि इत्यमरः।'**

अर्थ—हे गिरिजे! मैंने कलिमलकी नाश करने और मनके मलको हरनेवाली रामकथा वर्णन की॥ १॥ रामकथा भवरोग-(नाश करने-) के लिये संजीवनी जड़ी है ऐसा श्रुतियोंके निपुण पण्डित कहते हैं वा श्रुति और पण्डित इसे गाते हैं॥ २॥

नोट—१ *'सजीवनमूरी'* भवरोगको नाशकर मनुष्यको अमर करती है—१२२ (७) देखिये। २—*'कलिमल समनि——'* यथा—*'मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* (बा० १२ छन्द) ३—शिवजी अपनी कथाकी इति यहाँ लगाते हैं। क्रमसे जो चार संवाद मानसकविने बालकाण्डमें कहे हैं उनकी इति वा उपसंहार इस काण्डमें क्रमसे देते हैं।

वि० त्रि०—*'रामकथा——'* इति। (क) जबतक विषयका निरूपणभर करना था तबतक तो इतिहास था। यथा—*'यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही बृषकेतु।'* (१। १५२) *'यह इतिहास सकल जग जाना।'*; *'गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि भाँति गयउँ खग पासा॥'* इत्यादि। वही इतिहास जब फलश्रुति, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध-वर्णनसे संयुक्त हुआ तब उसकी संज्ञा कथा हो गयी। अतः कहते हैं कि *'रामकथा गिरिजा मैं बरनी।'* प्रश्न हुआ था—*'बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुति सिद्धांत निचोरि।'* (१। १०९) उत्तर हो रहा है कि *'रामकथा गिरिजा मैं बरनी।'* (ख) समयकृत दोष जिसका प्रभाव सबपर पड़ता है उसे *'कलिमल'* से उपलक्षित किया और व्यक्तिगत अन्तःकरणके मलको *'मनोमल'* कहा। (ग) इस रामचरितमानस नामक भक्तिशास्त्रका हृदय अयोध्याकाण्ड है जिसमें भक्तोंके चौदह लक्षण वाल्मीकिजीने कहे हैं, जिनमें सम्पूर्ण रामायण अनुस्यूत है। अतः सम्पूर्ण रामचरितकी फलश्रुति शिवजी अयोध्याकाण्डकी फलश्रुतिके अनुकूल ही कह रहे हैं। *'कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥'* (२। ६) (यह उस काण्डकी फलश्रुति है जो अरण्यकाण्डमें दी गयी है)।

२—*'संसृतिरोग——'* इति। (क) चूर्ण, गोली (क्योंकि इसमें अनुपानकी आवश्यकता है, चूर्ण और अर्कमें अनुपान नहीं होता) और अर्क (क्योंकि श्रवणपुटसे पान करना कहा है) ये तीन प्रकारकी दवाएँ रामचरितमानसमें भवरोगके लिये लिखी हैं। यथा—*'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।'* (१। १। २) *'रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥'*, *'संसृतिरोग सजीवनमूरी।'*, (यह अर्क है क्योंकि इसीमें कहा है—*'करै श्रवन पुटपान'*) इससे भवरोग जाता है अतः सुखमूल है। (ख) वेदमें जो कुछ कहा गया है उसका साक्षात् या परम्परागत रामसे सम्बन्ध है, अतः वेदमें रामकथा ही है। यथा—*'जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस।'*

---

* वीरकवि—गुटकामें 'श्रुति सूरी' पाठ है। परंतु 'सूरी' शब्दका कोई अर्थ ही ठीक नहीं लगता जो प्रसंगमें अनुकूल पड़ता हो। सूरी फाँसीको कहते हैं। यहाँ रामकथा किसके लिये फाँसी है? क्या संसृति रोगोंके लिये? उनका रूपक शरीरधारियोंसे नहीं कहा गया है; अतः इस अर्थको आत्मा स्वीकार नहीं करती है। इसीसे 'भूरी' पाठ दिया।—(भूरी—का०)।

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥ ३॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥ ४॥
मनकामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥ ५॥
कहहिं सुनहिं* अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—केर=के। पाउँ (पाँव) देना=पैर रखना। पंथाना=मार्ग, रास्ते। अनुमोदन (सं०)=प्रसन्नताका प्रकाशक; खुश होना, समर्थन (श० सा०)। कहने-सुननेमें सहायता करना (वि० त्रि०)।

अर्थ—इसमें सुन्दर सात सोपान (सीढ़ियाँ) हैं। ये सब श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके मार्ग हैं॥ ३॥ जिसपर अत्यन्त भगवत्कृपा होती है वही इस मार्गपर पैर देता (रखता) है॥ ४॥ जो यह कथा कपट छोड़कर गाते हैं वे मनुष्य मनोरथकी सिद्धि पाते हैं॥ ५॥ जो इसे कहते, सुनते, अनुमोदन करते हैं वे भवसागरको गौके खुरके (जलके) समान पार कर जाते हैं॥ ६॥

नोट—१ *'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।……'*, *'अति हरिकृपा जाहि पर होई।……'* इति।—ऐसा ही बालकाण्डमें कहा है। यथा—*'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥'* (बा० ३७। १) *'आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥'* (बा० ३८। ६) *'जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥'* (बा० ३८)

२—श्रीरामसमीप पहुँचानेके लिये यह राजमार्ग है, शाहराह है, इसी भावसे इसको पन्थ अर्थात् मार्ग कहा, यथा—*'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो'*—(वि० १७३) पुनः, यथा—*'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'* (बा० १३)।

३—प्रत्येक सोपानका नाम भी उस सोपानके अन्तमें ग्रन्थकारने स्वयं बता दिया है। कि० ३० की टिप्पणी २ देखिये।

वि० त्रि०—१ (क) *'सप्त सोपाना'* इति। गोस्वामीजीने रामचरितमानसको काण्डोंमें विभक्त न करके सोपानोंमें विभक्त किया। बाल आदि नाम सम्भवतः लोगोंने पीछेसे रख लिया। (ख) सब सोपान पृथक्-पृथक् भक्तिमार्ग हैं। यह अद्भुत सरोवर है। जिसमें प्रत्येक सोपानसे जलकी प्राप्ति होती है और प्रत्येक सोपानके जलके पृथक्-पृथक् गुण हैं, उसीको फलश्रुति कहते हैं। सातों सोपानोंके जलके गुण क्रमशः ये हैं— (१) *'तिन्ह कहँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस'*, (२) *'सादर सुनहिं जे तिन्हपर राम रहहिं अनुकूल'*, (३) *'रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग'*, (४) *'तिन्हके सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि'*, (५) *'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान'*, (६) *'बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान्'* और (७) *'बिमल कथा हरिपददायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥'* (५२। ५)

२—*'अति हरिकृपा……'* इति। (क) भक्तिशास्त्रमें सब कुछ हरिकृपापर ही अवलम्बित है। *'अति'* का भाव कि हरिकृपासे नर-शरीर मिला, विशेष कृपासे सत्सङ्ग मिला, रामकथा सुनी, पर उस कथामें जो सात रास्ते हैं, उन रास्तोंमें पाँव रखना हरिकी 'अति कृपा' से ही सम्भव है। (ख) *'पाउँ देइ'*—भाव कि कथा सुन लेना दूसरी बात है, परंतु तदनुसार बर्तना महादुष्कर है। बर्तनेकी ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती।

३—*'मनकामना सिद्धि नर पावा।……'* इति। भाव कि मनःकामनाकी सिद्धिके लिये लोग संकल्पपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, संकल्प न करनेसे अनुष्ठानका यथावत् फल नहीं होता। फिर अनुष्ठानके असंख्य कठिन नियम हैं। परंतु यहाँ दूसरी बात है, यहाँ कोई नियम नहीं। यहाँ तो किसी फलकी आकांक्षा न रखकर इस कथाका आनन्दमें विभोर होकर गानमात्र करनेसे मनःकामना आप-से-आप सिद्ध हो जाती है। बस,

* 'कहे सुने' (का०)। रा० प्र०—भाव यह है कि जो स्वयं कह नहीं सकते वे औरोंके कहनेसे सुनकर अनुमोदन करें तो वे अपार भवसागरको गोपद-सरीखे पार कर जायँ। अनुमोदनमें यह भी भाव है कि सुनकर प्रसन्न होते हैं और अघाते नहीं, यथा—'रामकथा जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥' 'कहहिं सुनहिं' पाठका भाव कि 'कहैं आपसे, सुनहिं आनसे।'

यही एक गुण अपेक्षित।—[वर्णाश्रमकी गन्ध, मान, बड़ाई, लोकरञ्जना आदि सब कामनाएँ 'कपट' हैं। (करु०)। १२७ (४) देखिये]

४—'*कहहिं सुनहिं*......' इति। भाव कि रामायणप्रतिपादित 'राम' को ब्रह्म जानकर उनकी कथा कहना, सुनना या कहने-सुननेमें सहायता करनेका यह फल है कि अनायास लोग भवसागर पार कर जाते हैं और जो ब्रह्मसे भिन्न मानकर कहते-सुनते हैं वे अधम हैं। यथा—'*कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।*' '*गोपद इव*' का भाव कि इनके लिये भवसिंधु बिलकुल सूखा-सा हो जाता है, वे उसे अनायास पार कर जाते हैं जैसे गौके खुरके गढ़ेको लाँघ लानेमें परिश्रम नहीं होता।

नोट—४ '*अनुमोदन*' में गीताके '*तुष्यन्ति च रमन्ति च।*'(१०। ९) का भाव भी आ जाता है। अर्थात् जो वक्तागण प्रभुके गुण-प्रवचनसे संतुष्ट हो जाते हैं और जो श्रोतागण उस असीम अतिशय प्रिय गुण-श्रवणसे परम आनन्द लाभ करते हैं वे भवसागरको अनायास तर जाते हैं।

रा० प्र०—कोई ऐसा कहते हैं कि कथाका माहात्म्य ग्रन्थमें कई ठौर लिखा है जैसे कि '*रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि*......' फिर बा० ३१ (४) '*निज संदेह मोह भ्रमहरनी*' से दोहा ३२ तक, जन्म-समय, उपवीत, विवाह, भरतचरित्र इत्यादि अनेक स्थलोंपर माहात्म्य कहा गया। यहाँ जो कहा गया वह सबका सार है। [यहाँ प्रथम निदर्शना अलङ्कार है। '*गोपद इव*......' में पूर्णोपमा है]

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोलीं गिरा सोहाई॥ ७॥
नाथ कृपा गत मम संदेहा। रामचरन उपजेउ नव नेहा॥ ८॥
दो०—मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ १२९॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) सब कथा सुनकर श्रीपार्वतीजीके हृदयमें वह बहुत अच्छी लगी और वे सुन्दर वाणी बोलीं॥ ७॥ हे नाथ! आपकी कृपासे मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजीके चरणोंमें नया (अपूर्व) प्रेम उत्पन्न हुआ॥ ८॥ हे विश्वेश (जगत्‌के स्वामी)! आपके प्रसादसे मैं अब कृतकृत्य हुई, मुझमें दृढ़ रामभक्ति उत्पन्न हुई और मेरे समस्त क्लेश बीत गये॥ १२९॥

नोट—शिवजीका कथन समाप्त हुआ। याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे यह संवाद कहा है; अतः अब वे उसकी इति लगाते हैं। '*सुनु सुभ कथा भवानि*......।' (बा० १२०) उपक्रम है, '*सुनि सब कथा*......' उपसंहार है। बीचमें शिव-पार्वती-संवाद है। अब पार्वतीजी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हैं। गरुड़जी और पार्वतीजीको समान ही संदेह थे, अतः दोनोंके अन्तिम वाक्य भी एक-से हैं, मिलानसे स्पष्ट हो जायगा। जो भाव एक जगह लिखे गये वे ही दूसरी जगह हैं—

श्रीगरुड़जी	श्रीपार्वतीजी
१२४ बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत......	*१ गिरिजा बोलीं गिरा सुहाई १२९। ७*
१२५ (१) मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी	*२ मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद १२९*
,, (२) रामचरन नूतन रति भई	*३ रामचरन उपजेउ नवनेहा,*
,, (२) मायाजनित बिपति सब गई	*४ बीते सकल कलेस १२९*
,, (१) तव प्रसाद सब संसय गएऊ	*५ नाथ कृपा गत मम संदेहा १२९। ८*

६—'*गएउ गरुड़ बैकुंठ तब।*' (१२५) क्योंकि वे वैकुण्ठमें रहते हैं और कथा नीलगिरिपर सुनी है। उमा-महेश्वर-संवाद कैलासपर ही हुआ है, यह '*सदा जहाँ सिव उमा निवासू*' (बा० १०५। ८) में प्रसंगके प्रारम्भमें ही कह आये हैं, अतः इनका जाना न कहा गया।

☞ मिलानसे यह भी स्पष्ट कर दिया कि १—कथाके श्रवणका फल है—विगतसंदेह होना और श्रीरामपदमें अनुरक्ति होना। यदि ये न हुए तो विश्वास माने कि उसने कथा नहीं सुनी। २—'*गिरा*

सोहाई'=प्रेमसहित विगत-सन्देह सुन्दर वाणी। नवनेह=नूतन रति। क्लेश=मायाजनित सब विपत्ति (मोह, सन्देह इत्यादि)।—[करु०—अति भाई=अत्यन्त भावसे।] ३—रामचरणमें 'नूतन रति', तथा 'नवनेह' अब अन्तमें कहनेका तात्पर्य कि अब रामरहस्य और ज्ञानभक्ति-भेद दोनों सुन चुके हैं जिसका फल भुशुण्डिजीने यही कहा था कि—'*जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अविछीन॥*' (११६) अतः उसके सुननेपर 'नूतन रति' कहा अर्थात् अब अविच्छिन्न प्रेम हो गया।

प्रारम्भमें पार्वतीजीने सम्बोधन किया था—'*विश्वनाथ मम नाथ (पुरारी)।*' यहाँसे उमा-महेश्वर-संवादका प्रसंग है, अतः उसका उपसंहार भी उन्हीं शब्दोंपर किया गया है—'*तव प्रसाद बिस्वेस*', '*नाथ कृपा गत संदेहा।*' उपक्रममें बारंबार कृपा करके कथा कहनेको कहा है और यह भी कि '*जासु भवन सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्रजनित दुख सोई॥*' इत्यादि; अतः अन्तमें '*तव प्रसाद*', '*नाथ कृपा*' से कृतकृत्य होना कहा।

वि० त्रि०—१ (क) '*हृदय अति भाई*'—गिरिजाजीके प्रश्न शंकरजीको अच्छे लगे थे, यथा—'*प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छलबिहीन सुनि सिव मन भाई॥*' (१। १११। ६) इसी भाँति शंकरजीके उत्तर गिरिजाजीको भाये। पुनः भाव कि पहले उन्हें कथा नहीं भायी थी, (अगस्त्यजी कहते रहे, इन्होंने सुना ही नहीं, केवल शिवजी सुनते रहे थे। यथा—'*रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥*' (ख) '*सोहाई*' गिरा वही कहलाती है जो अच्छी लगे; अतः 'सोहाई' और 'भाई' का साथ रहता है। यथा—'*जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥*', '*आश्रम एक पुनीत सोहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥*', '*तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥*' इत्यादि।

२ (क) '*मम संदेहा*'—'संदेह यह था कि '*जो नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥*' (१। १०८) वह संदेह जाता रहा, यथा—'*तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह। जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥*' (५२) (ख) '*नव नेहा*' का भाव कि नेह पहले भी था, यथा—'*तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥*'; पर अब जो नेह है वह दूसरा है। नव=अपूर्व; यथा—'*ये दारिका परिचारिका करि पालबी करुना नई।*', '*बिगरी सुधारै कृपानिधि की कृपा नई।*' (ग) प्रभुमें नव नेह कहकर अस्मिताका दूर होना कहा, यथा—'*हित हमार सियपति सेवकाई।*'

३ (क) '*कृतकृत्य भयउँ अब*'—जबतक कोई कृत्य शेष रहता है तबतक कोई कृतकृत्य नहीं होता और जबतक राग-द्वेष है तबतक कृत्य भी निःशेष नहीं होता। जगत्‌को राममय देखनेसे ही राग-द्वेषकी सम्यक् प्रकारसे हानि होती है; यथा—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*' अतः कृतकृत्य कहकर राग-द्वेषकी हानि कही। (ख) '*तव प्रसाद*'—प्रश्न किया था कि '*जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी। तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥*'; अतः समाधान सुनकर कहती हैं कि '*मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद*......*।*' (ग) '*उपजी रामभगति दृढ़*' —भाव कि संशयका नाश होनेपर भक्तिमें दृढ़ता आयी। दृढ़ भक्तिवालेको देहकी ममता नहीं रह जाती; यथा—'*तुलसी मंगल मरन तरु रामप्रेममय सींचु।*'—इससे अभिनिवेशका नाश कहा। (घ) '*बीते सकल कलेस*—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशको क्लेश कहते हैं। यथा—'**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।**' (योगसूत्र) ये पाँचों दूर हो गये (जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है)।

यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ १॥
भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥ २॥

अर्थ—(महर्षि याज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजीसे कहते हैं कि) यह मङ्गलकारक शम्भु-उमा-संवाद, सुख प्रदान करनेवाला और दुःखोंका नाशक है॥ १॥ यह भवका भंजन करनेवाला, संदेहोंका नाश करनेवाला, भक्तोंको एवं प्राणीमात्रको आनन्द देनेवाला और सज्जनोंको प्रिय है॥ २॥

नोट—१ अब याज्ञवल्क्यजी शम्भु-उमा-संवादकी फल-श्रुति कहते हैं जैसे शिवजीने भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी कही थी। १२६ (१—३) देखो। शम्भु-उमा-संवादके वक्ता वा श्रोताको कहीं आना-जाना नहीं

है, दोनों कैलासपर रहते हैं और वहीं संवाद हुआ; अतः याज्ञवल्क्यजी *'यह सुभ संभु उमा संबादा'* कहकर उस संवादकी इति लगाते हैं। संवाद समाप्त होते ही कहा है, अतः 'यह' कहा। २—*'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।'* (१। ४७) उपक्रम है और *'यह सुभ संभु उमा संबादा'* उपसंहार है। उपक्रममें इसका फल कहा था—*'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद।'* (बा० ४७) और उपसंहारमें *'सुख संपादन समन बिषादा'* कहा।

वि० त्रि०—१ *'समन बिषादा'* इति। विषादयोग होनेपर ही हमारे यहाँ उपदेशकी विधि है। भगवद्गीतामें पहले ही **'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।'** चलता है। यहाँ पहले उमाको विषाद हुआ। यथा—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (और संशयमें ही तर्कसे विषाद होता है, यथा—*'संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः॥'*) फिर गरुड़को विषाद हुआ; यथा—*'बंधन काटि गएउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा॥'* तत्पश्चात् भरद्वाजको विषाद हुआ, यथा—*'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनि मुनि मिटिहि बिषाद॥'*—सो यह श्रीरामचरित तो विषाद मिटानेकी ओषधि ही है; अतः कहते हैं कि *'समन बिषादा।'* इसमें केवल विषादाभावात्मक सुख ही नहीं है बल्कि भावात्मक सुख भी है; यथा—*'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥'* संसारवृक्षके दो ही फल हैं—सुख और दुःख और 'दुःखका नाश तथा सुखकी प्राप्ति', इतना ही पुरुषार्थ है। उमा-शम्भु-संवादसे ये दोनों होते हैं।

२—*'भव भंजन······'* उमा-शम्भु-संवादके श्रवणमात्रसे 'भवभञ्जन हो जाता है, यह इस संवादकी विशेषता है। भक्तिलाभ भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी विशेषता है, यथा—*'मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।'* सन्देहोंका नाश होना, हृदयका रामरंगमें रँग जाना (जनरञ्जन) और सज्जनोंको प्रिय होना ये गुण तो संवादोंमें हैं।

नोट—३ *'भव भंजन गंजन संदेहा।······'* , यही राम-कथाका फल कहा है, यथा—*'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। कहौं कथा भव सरिता तरनी॥'* *'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।'* बा० ३१(४-५), *'सज्जन कुमुद चकोरचित हित बिसेषि बड़ लाहु।'* (बा० ३२) संवादमें श्रीरामकथा है ही। इसके भाव बा० ३१ (४-५), बा० ३२ में देखिये।

करु०—*'सुख संपादन'* इति। भाव कि परमानन्दस्वरूपको तो उद्यत करता है और वर्णन *'करत संते'* (करनेमें) वह सुख सुकृती जीवोंको जना देता है, दिखा देता है और प्राप्त कर देता है।

राम उपासक जे जग माहीं। यह सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥ ३॥
रघुपति कृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥ ४॥

अर्थ—संसारमें जो रामोपासक हैं, उनको इसके समान प्रिय कुछ नहीं है॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैंने यह सुन्दर पवित्र चरित अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया॥ ४॥

पं०—जैसी मति श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दी उसके अनुसार गायी।

नोट—१ यह भरद्वाजप्रति याज्ञवल्क्य-वाक्य हैं। अपने कथाकी इति वे यहाँ लगाते हैं। *'तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥'* (१। ४७। ५) उपक्रम है और *'······गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥'* उपसंहार है। २—*'पावन चरित', 'जथा मति', 'गावा'* और *'सुहावा'* के भाव पूर्व आ चुके हैं।

राम उपासक

करु०—*'राम उपासक जे जग माहीं।'* इति। (क) उपासना, यथा—**'गुरुमन्त्रानुसारेण लयं ध्यानं जपं तथा। पाठं तीर्थं च संस्कारमिष्टं सर्वपरात्परम्॥ इष्टपूजां प्रकुर्याद्वै तत्कथां शृणुयात् पठेत्। तदंशव्यापकं विश्वं कथ्यते साप्युपासना॥ न विधिर्न निषेधश्च प्रेमयुक्तं रघूत्तमे। इन्द्रियाणामभावः स्यात्सोऽनन्योपासकः स्मृतः॥ ध्याने पाठे जपे होमे ज्ञाने योगे समाधिभिः। विनोपासनया मुक्तिर्नास्ति सत्यं ब्रवीमि ते। यैः कृतं भक्तिविज्ञानमनन्योपासनां विना। न प्राप्तिर्भगवद्रूपे सत्यं सत्यं वदामि ते॥'** (इति महारामायणे) (करु०)।

नोट—जन (भक्तों) और सज्जनोंके लिये ऊपर कह चुके अब सम्प्रदायविशेषको लक्ष्य करके कहते हैं। उपासकका देश पतिव्रताका-सा है। जैसे पतिव्रता अपने पतिसे ही अनुराग करती है और अपने पतिकी प्रसन्नता-हेतु पतिके मनके अनुकूल उसके सम्बन्धियोंको सामान्य रीतिसे मानती है, वैसे ही उपासक जन परमेश्वरके अनन्तस्वरूपोंमेंसे उस एक स्वरूपमें, जो गुरुसे प्राप्त हुआ है, रति मानते हैं और अपर स्वरूपोंको अंश, कला वा विभूति मानते हैं। जैसे चातक एक स्वातिबूँदको छोड़ अपर मेघ (आदिके) जलको मानता ही नहीं। उन्हीं रामोपासकोंसे यहाँ तात्पर्य है। ऐसे उपासकोंको इसके समान दूसरा कुछ प्रिय नहीं है। (ख) 'क्यों दूसरा ग्रन्थ प्रिय नहीं होगा?', उसका कारण यह है कि इसमें श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप, किशोरमूर्ति, द्विभुज, अखण्ड एकरस, सर्वोपरि, निर्विशेष परब्रह्मविग्रहशेष सच्चिदानन्द चिन्मय सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वशरण्यत्व-कृपा-करुणा-शील इत्यादि विशेषणयुक्त—श्रीब्रह्मा-शिव-वाल्मीकि-सनकादिक इत्यादिने बताया है उन्हीं श्रीरामचन्द्रजीका प्रतिपादक यह ग्रन्थ है, श्रीरामचन्द्र प्रतिपाद्य हैं।

☞रामोपासक वह हैं जिनको द्विभुज शरचापधारी रघुकुलभूषण राम छोड़ स्वप्नमें भी दूसरे स्वरूपकी शरण नहीं है, जिनके परात्पर परब्रह्म श्रुतिप्रतिपाद्य सर्वावतारी एवं सर्वस्व नित्य द्विभुज 'राम' ही हैं, जिनकी राम ही गति हैं, जो चराचरमात्रमें अपने राघव रामको ही देखते हैं; यथा—'*तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं*', '*सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥*', '*निज प्रभुमय देखहिं जगत*……'।

उपासनायोग्य वही है जो परात्परतरतत्त्व है, जिससे परे फिर कोई नहीं, जो अशेष-कारणका भी कारण है और स्वयं उसका कोई कारण नहीं है, जो सर्वावतारी है, इत्यादि-इत्यादि। श्रुतियोंमें विरोध-सा भासता है; पर बाबा हरिदासजीकृत भाष्य जो श्रीरामस्तवराज और श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर है, उसमें उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि श्रुतिप्रतिपाद्य परात्परतत्त्व द्विभुज राम ही हैं। गोस्वामीजीने भी अपने इष्टदेवको इसी स्वरूप और नामसे दिखाया और प्रतिपादन किया है। कोई भी नाम क्यों न हों, वे सब रामजीके ही हैं पर रामनाम मुख्य है और अन्य सब गौण (गुण वा क्रियावाचक) हैं।

इसी तरह श्रीमन्नारायणको परात्परतर माननेवाले नारायणोपासक, रुद्रको परात्परतर माननेवाले रुद्रोपासक, विष्णुको माननेवाले विष्णूपासक इत्यादि हुए। परात्परतरतत्त्व एक ही है, दो नहीं। अतः परात्परतरतत्त्व मानकर किसी भी नामसे उपासना करें तो वह परात्परको ही प्राप्त हो, क्योंकि वह चराचरमात्रमें उसी एक प्रभुको देख रहा है। भजन करते-करते वह समय आ जायगा कि प्रभु अपना वास्तविक स्वरूप उसको जना देंगे।

रामोपासकका भाव यह है कि जो अन्यके उपासक हैं वे इस ग्रन्थमें रामरूप, रामचरित इत्यादिमें कुतर्क करेंगे, जो रामको परात्परतर नहीं जानते उनको इस चरितमें आनन्द नहीं प्राप्त होगा। जिनको 'राम' इष्ट हैं उनको इसके समान कुछ भी प्रिय न होगा, क्योंकि इसमें सर्वत्र 'राम' ही भगवान् प्रतिपाद्य हैं, अन्य नहीं।

श्रुतियों-स्मृतियों-पुराणोंमें जो विरोध भास रहा है वह हमारी ही दुराग्रहका है। वस्तुतः वे सब एक परात्परतत्त्वको ही विभिन्न रूपोंमें बर्णन करके हमें स्पष्ट करके परमोच्च शिक्षा दे रहे हैं कि ये सब भगवान् उपास्य देव ही हैं, जिस स्वरूपमें तुम्हारी रुचि हो उसीको दृढ़ ग्रहण करो, उसी एकको परात्परतरतत्त्व समझो, अन्य सबको उसके रूपान्तर, अंशावतार, सेवक, अङ्ग इत्यादि मानकर एककी दृढ़ श्रद्धा-विश्वाससे उपासना करो। हमारा वही एक 'राम' ही तो सबमें रमण कर रहा है।

यही शिक्षा देनेके लिये श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीका अवतार हुआ और उन्होंने यही किया भी। सर्व-श्रुतियोंका सारसिद्धान्त तथा जगद्गुरु भगवान् शंकरसे प्राप्त सिद्धान्त श्रीराम-द्विभुज-शार्ङ्गधर स्वरूपको ही उन्होंने हमारे सामने परात्परतत्त्व रूपसे खड़ा कर दिया है। उसीको वे निर्गुण, उसीको सगुण, उसीको विराट्, उसीको ज्योति, उसीको सबका नियन्ता, सबका प्रेरक, अशेषकारणपर इत्यादि दिखाया है और सब भगवत्स्वरूपोंको उन्हींसे उत्पन्न, उन्हींके अधीन, उन्हींके रूपान्तर इत्यादि बताये हैं और हमको उपदेश देते हैं कि शास्त्रोंके झगड़ेमें न पड़ो, जो हम कहते हैं वही ठीक मानो और उसीमें लग जाओ। राम नामको रटो, यही नाम सर्वोपरि है, रामरूप धनुर्धरको हृदयमें बसाओ, रामचरित गाओ और सुनो—बस, यही उपदेश ग्रन्थमें उनका सार-सिद्धान्त है—

'बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहि लागत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिर पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥' (वि० १७३)

वै०—रामोपासकोंको इसके समान कुछ प्रिय नहीं है क्योंकि इससे उपासनाके सर्वाङ्ग दृढ़ हो जाते हैं।

वि० त्रि०—१ *'एहि सम प्रिय……'* का भाव कि यह देह और प्राणसे बढ़कर प्यारा है। क्योंकि *'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥'* पर श्रीरामजीसे प्यारा भी कोई नहीं है, यथा— *'राम देत नहिं बनै गोसाईं।'* इस तरह सूचित किया कि श्रीरामोपासकोंको राम-समान प्रिय है। यह कथा सबको सुखदाई है पर रामोपासकोंको विशेष सुखदाई है; यथा—*'ता कहँ यह बिसेषि सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥'* और जो जितना सुखदाई है वह उतना ही विशेष प्रिय है।

२—एक ही कथाके प्रति-संवादकी फलश्रुतिमें भेद होनेका कारण यह है कि प्रति-संवादमें भगवत्-चरित्र वही होनेपर भी भागवत-चरितोंमें न्यूनाधिक्य है। जैसे कि, उमा-शम्भु-संवादमें गरुड़जीकी कथा अधिक है, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादमें उमा-शम्भुचरित अधिक है और तुलसीकृतमें भरद्वाज-कथा अधिक है।

३—याज्ञवल्क्यजीका जाना नहीं कहा, क्योंकि वे वहीं रह गये। यथा—*'भरद्वाज राखे पद टेकी।'* नहीं जाने दिया। यहाँपर भरद्वाजजीका कृतज्ञता-प्रकाश भी नहीं लिखा, क्योंकि वे ऐसे प्रेममें मग्न हो गये थे कि उनके मुखसे वाणी ही नहीं निकली। शंकरचरित सुनकर ही उनकी यह अवस्था हुई थी कि *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।'* तबसे फिर बोले ही नहीं; कथा पूरी हो गयी पर बीचमें एक प्रश्न भी नहीं किया। बीच-बीचमें मुनि (याज्ञवल्क्य) जी बराबर सावधान करते रहे, पर वे कथामें ऐसे डूबे कि भगवान् याज्ञवल्क्यने भी *'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा'* कहनेके बाद संबोधन करना भी बंद कर दिया। भरद्वाजजीकी समाहित अवस्था बढ़ती ही गयी अतः कृतज्ञता प्रकाश न कर सके। दक्षिण घाट समाप्त हुआ।

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥५॥
रामहि सुमिरिय गाइअ रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥६॥

अर्थ—इस कलिकालमें योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजन आदि दूसरा कोई साधन नहीं है॥ ५॥ श्रीरामहीका स्मरण, श्रीरामजीका ही यश-गान कीर्तन करना चाहिये तथा करो और श्रीरामजीके गुण-समूहको ही सदा सुनो—(यही एकमात्र कलिकालमें साधन है)॥ ६॥

नोट—१ (क) ☞ अब गोस्वामीजी अपने संवादकी इति लगाते हैं। यहाँसे अब उनके वाक्य हैं। (ख) *'न साधन दूजा'* का भाव कि अल्पायु, अल्पबुद्धि, अल्पबल, रोगी शरीर, अल्प धन इत्यादि, यज्ञ, योग, तप, व्रतके बाधक हैं। यज्ञके लिये सामग्री, ऋत्विज् जैसे चाहिये वैसे नहीं मिलते। जप और पूजा तथा योगमें मनकी एकाग्रता चाहिये सो भी कलिमें सम्भव नहीं अतः इनका साधन हो नहीं सकता। विशेष *'कलियुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक अधार रामगुनगाना॥'* (१०३। ५) में देखिये। जपमें न्यास, प्राण-प्रतिष्ठा, अपनेमें मन-वचन-आचारकी शुद्धि इत्यादि करना वेदतन्त्रमें विधान है; सो अब हो नहीं सकता। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि **'प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः। मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥'** (१। १। १०) **भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।'** (११) पुनश्च—**'तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥'**(१। २। १४) अर्थात् इस कलियुगमें प्रायः समस्त प्राणी अल्पायु, मन्दबुद्धि, शिथिल स्वभाववाले, मन्दभाग्य और रोगी होते हैं। संसारमें विभागपूर्वक सुनने योग्य और नाना प्रकारके कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र बहुत हैं। और बड़े-बड़े यज्ञादि कर्म तो बहुत दिनोंमें करने योग्य हैं (अतः वे निबह नहीं सकते)। सूतजी कहते हैं कि सबका नित्य धर्म यही है कि एकाग्रचित्त होकर भगवान्के गुण सुनें, उनका कीर्तन, ध्यान और पूजन करें। [भाव कि कालके

प्रभावको अन्यथा करनेमें कोई समर्थ नहीं है, किसीकी शक्ति नहीं कि ग्रीष्म-ऋतुमें गर्मी न पड़ने दे, पर खसकी टट्टी, पंखा आदिसे अपनी रक्षा कर सकता है। सो गोस्वामीजी अपने मनसे कह रहे हैं कि इस समय घोर कलिकाल तप रहा है, यथा—*'सुनु ब्यालाद कराल कलिमल अवगुन आगार।'* खलमण्डलीमें रहते हुए धर्म निबहने नहीं पाता और जहाँ संसार-का-संसार पापी हो गया, वहाँ धर्म कैसे निबहेगा? यथा—*'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती॥'* (वि० त्रि०)]

२ *'रामहि सुमिरिय गाइय रामहि......'* का भाव कि—(क) ऐकान्तिक स्मरणमें मन लगता हो तो इन्हींका भजन-स्मरण करो, एकान्त वा समाजसहित कीर्तन अच्छा लगता हो तो श्रीरामजीका ही कीर्तन करो, सांसारिक राजाओं इत्यादिका नहीं, यदि गान-विद्यामें निपुण हो अथवा अच्छे वक्ता हो तो रामयशके गवैया एवं वक्ता भी बनो, कथा कहनेका शौक हो तो रामकथा ही कहो और सुननेका शौक हो तो रामयश ही सुनो, पर अपवाद वा राजाओं, रईसों तथा अन्य विषयरसकी कथाओंको न सुनो। पुनः (ख) एकान्तमें अकेले हो तो स्मरण करो, सज्जन सुशील अधिकारी श्रोता मिलें तो उनके साथ मिलकर कीर्तन करो, उनसे कथा कहो और यदि अच्छे वक्ताका समागम हो तो उनसे चरित सुनो—(पां०)। पुनः भाव कि रामनामका स्मरण करना चाहिये, मुखसे बोलना चाहिये, केवल मानसिक इस कालमें पर्याप्त नहीं है। यथा—*'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥'* उससे मन थके तो गुणगान करना चाहिये। (वि० त्रि०) मिलान कीजिये—*'श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं'* (विनय १०४), *'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं'* (विनय १०५)

करु०—चित्तकी वृत्तिमें सुमिरण करे।

खर्रा—मनसे रामगुणोंका स्मरण करे, मुखसे रामगुणगान करे और कानसे रामचन्द्रजीके गुण सुने। यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों कहे।

वै०—जब दूसरा साधन है ही नहीं तब उचित कर्त्तव्य यही है कि *'रामहि सुमिरिय......' 'संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि'* सदा सुनिये। यदि वक्ता न मिले तो रामचरितको गाइये, अधिकारी श्रोताओंको सुनाइये। यदि अच्छे वक्ता, श्रोता न मिलें तो रघुनाथजीका सुमिरण कीजिये। भाव कि रामचरितका चिन्तन कीजिये, अकेले ही ग्रन्थका अवलोकन किया करिये। ऐसा क्यों करें? इसके लिये आगे कहते हैं कि *'जासु पतित पावन......'* ऐसे ही विरदवालेको भजनेसे काम चलेगा, अन्यसे नहीं।

जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥७॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥८॥

अर्थ—'जिसका पतितोंको पवित्र करना बड़ा बाना है' कवि, श्रुति, संत और पुराण यही गाते हैं॥७॥ हे मन! कुटिलता छोड़कर उसे भज। रामभजन करके किसने सद्गति नहीं पायी? (अर्थात् सभीने पायी है)॥८॥

नोट—१ (क) *'पतित पावन बड़ बाना'।* भाव कि बाने तो बहुत हैं, यथा—*'मृषा न कहउँ मोर यह बाना।'* (१६।७) *'एक बानि करुनानिधान की। सो अनन्य जाके गति न आन की।'* (३।१०।८) पुनः, यथा—*'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥'* (५।४४।१) 'अपि चेत्सुदुराचारो......' (सुं० दोहा ४३ (७) से ४४ तक देखो), *'दीनदयाल बिरदु संभारी।'* (५।२७।४) *'सहज बानि सेवक सुखदायक।'* (५।१४।५) *'उथपे थपन उजारि बसावन गई बहोरि बिरुद सदई है।'* (वि० १३९) *'बाँह पगार द्वार तेरें तें सभय न कबहूँ फिरि गए। तुलसी असरन सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नए।'* (गी० ५।३२) इत्यादि। पर यह बाना सबसे बड़ा है। (ख) *'गावहिं कबि श्रुति......'* इति। यथा—*'बिरद गरीबनिवाज राम को। गावत बेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ नाम को॥'* (वि० ९९) *'दीनदुखदवन श्रीरमन करुनाभवन पतितपावन बिरद बेद गायो।'* (वि० १०६) (ग) [यहाँ कवि और संत आप्त हैं और श्रुति-पुराण आप्त-वाक्य हैं। अतः शब्दप्रमाणसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामचन्द्रका बड़ा विरद पतितपावन है। कविकी कविताकी व्याख्या संत लोग किया करते हैं अतः दोनोंको कहा। पुराण वेदके कहे हुए अर्थका ही उपबृंहण (पोषण) करते हैं। अतः इन दोनोंको कहा। (वि० त्रि०)।]

२—गोस्वामीजीका संवाद अपने मनसे है—*'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'*, 'स्वान्तःसुखाय', *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'*—यह बा० ३१ (२) उपक्रम है, अतः मनको उपदेश करते हुए वे कथाका उपसंहार करते हैं—*'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई'* इत्यादि।

३ (क) *'कुटिलाई'*—भक्तिपथमें मनकी कुटिलता बाधक है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे भक्तिमार्गमें चलनेवालोंके लिये इसका त्याग कहा है; यथा—*'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥'* (४६। २) वैर, विग्रह, आशा-भरोसा (दूसरेका), भय, दुष्ट तर्क, असंतोष इत्यादि 'कुटिलताएँ' हैं [लोकमर्यादा (का भय) मनकी कुटिलता है। (करु०) मनके द्वारा जगन्मात्रको उपदेशमें 'गूढ़ोक्ति' है। (वीर)] (ख) *'राम भजे……'* का भाव कि तू भजन कर, तेरा इतना ही कर्तव्य है, गतिकी चिन्ता न कर वह तो वे देंगे ही।

छं०—पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥ १॥

अर्थ—अरे शठ मन! पतितपावन रामको भजकर किसने गति नहीं पायी (कोई हो तो बता)? गणिका (पिंगला, कान्होयात्रा इत्यादि), अजामिल, व्याध, गृध्र (जटायु, संपाती इत्यादि) और गजादि अनेक खलसमूहको उन्होंने तार दिया। आभीर (जो समुद्रको दुःख दिया करते थे), यवन (जिसने हराम कहा था), किरात (निषाद भील), खस (खश देशवासी, खासिया पहाड़ी देशवासी), स्वपच (वाल्मीकि नामक इत्यादि) इत्यादि जो अत्यन्त पापकी मूर्ति ही हैं वे भी एक बार जिनका नाम लेकर पवित्र हो जाते हैं उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

वि० त्रि०—१ *'पाई न केहि गति…… सुनु सठ मना'* इति। चौपाइयाँ पुरइन हैं और छन्द-सोरठा-दोहा कमल हैं। यथा—*'पुरइनि सघन चारु चौपाई……छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥'* (१। ३७। ४-५) पुरइनमें कली लगती है, पीछेसे वही कली विकसित होकर फूल हो जाती है। यहाँ *'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥'* इस पुरइनमें कली लगी है, इसीका विकसित रूप छन्द है। *'मन……। राम भजे गति केहि नहिं पाई'* यह कलीका रूप है। मनको शठ कहते हैं क्योंकि यह अनुनय-विनय एक नहीं सुनता। उसीसे पूछते हैं कि तू किसी अधर्मीका नाम बता, जो भजन करनेपर भी परमपदका भागी न हुआ हो।

☞गोस्वामीजी दीनघाटके वक्ता हैं, अतः कथामें जहाँ दैन्य प्रधान है, वहाँ ये ही बोलते हैं। यथा—*'तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की।'*, *'तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़'* इत्यादि। यहाँ भी दैन्यका प्राधान्य है; अतः अपने श्रोता मनको सम्बोधन करते हैं! [☞पूर्व यह बताया जा चुका है कि जहाँ भक्तिका प्राधान्य है वहाँ भुशुण्डिजी और जहाँ कर्मका प्राधान्य है वहाँ याज्ञवल्क्यजीका वाक्य आता है।]

२ *'गनिका अजामिल……'* इति। पाँच खलोंकी नजीर (उदाहरण) दी जाती है, जो भजन करनेसे तर गये। गणिकाके अज्ञानकी कौन सीमा, जिसने क्षणिक सुखके लिये शतकोटि कल्पके दुःखपर ध्यान नहीं दिया; अजामिलकी अस्मिताका क्या अन्त, जिसने जन्मभर पाप ही कमाया और घोर संकटके समय भी परमेश्वरको न पुकारकर अपने लड़केको पुकारा। व्याधके रागका क्या ठिकाना जो कुटुम्बके रागमें पड़ा हुआ हिंसा ही करता रहा। गीधकी द्वेषयुक्त जीविका ही थी, यथा—*'गीध अधम खग आमिष भोगी।'* गजने अभिनिवेशके वश होकर ही भगवान्‌को पुकारा। अतः इन पाँचोंमें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका आधिक्य था। इसीलिये पाँच उदाहरण दिये गये।

३ *'आभीर जमन……'* इति। ये जातियाँ अघरूप हैं, इन योनियोंमें जन्म होना पूर्व पापका परिणाम है। इन योनियोंमें भी जो जन्म लेकर भगवान्‌को भजता है वह पवित्र हो जाता है।

[नोट—इनमेंसे बहुतोंकी कथाएँ पूर्व आ चुकी हैं। *'अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥'* (१। २६। ७) *'बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥'* (२। १९४, ५। ६०। ५ देखिये)]

४ पतित दो प्रकारके हुए, एक जातिसे पतित और एक कर्मसे पतित। (गणिका, अजामिल आदि खल थे और आभीर, यवनादि अति अघरूप थे) दोनों प्रकारके पतितोंका उद्धार श्रीरामजीके भजनसे दिखाया।

नोट—ध्यानसे (व्याधसे) 'जरा', 'वाल्मीकि' तथा 'कपोतीको जिसने मारा था कि जिसने वर्षा-शीतादिसे उसकी रक्षा की थी, वाल्मीकीयमें विभीषण शरणागतिमें जिसकी कथा है' इत्यादि व्याधा यहाँ अभिप्रेत है।

'खस'—इस वंशका वर्णन महाभारत और राजतरंगिणीमें तथा मनुसंहितामें भी आया है। खश देश वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्त्ती प्रान्तका प्राचीन नाम है। इस जातिके वंशज नेपाल, और किस्तवाड़-(काश्मीर-) में अब भी इसी नामसे विख्यात हैं। (अ० १९४ में देखिये)

पं० श्रीकान्तशरणजी—*'गनिका……'* इति। मन यदि कहे कि 'मुझे बहुत कालसे दसों इन्द्रियोंके द्वारा मलिनता छा गयी है, यह कैसे शुद्ध होगी?' 'उसपर गणिका आदिकी गति दिखाते हैं। जैसे गणिकाका पृथ्वीके गुण्डोंका सङ्ग था, वह तोतेको नाम रटानेके संयोगसे तर गयी। वैसे जीवकी बुद्धि विषयोंके पीछे इन्द्रियदेवोंके साथ व्यभिचारिणी वेश्या हो गयी। हृदयमें एकाग्रता नहीं आती, तब मन्त्रार्थ एवं रूपपर वृत्ति रखे बिना नामजप करना तोतेको रटानेके समान है, जीभ ही तोता है, यथा—*'कीर ज्यों नाम रटै तुलसी……'*। जैसे तोतेको पढ़ाती हुई वेश्याकी और उस तोतेकी साथ ही मृत्यु हुई, दोनों तर गये, वैसे ही पूरी आयुतक नाम रटन करते हुए इस तरह जपसे भी मुक्ति हो जायगी, इसमें संदेह नहीं। वेश्यागामी अजामिल लिङ्गेन्द्रियका प्रमादी था। व्याध वाल्मीकिजी पूर्वावस्थामें हजारों ब्राह्मणोंकी हिंसा करनेवाले थे; हस्तेन्द्रियके प्रमादी थे। गृध्र जटायुजी पैरके प्रमादी थे, पक्षियोंमें पक्ष ही पैर है, उन्हींसे उड़कर उन्होंने सूर्यका अपमान करना चाहा था। गजेन्द्र मुखके प्रमादी थे, हाथीकी सूँड़ ही उसका मुख है, वह उसीसे वृक्षादि उखाड़नेका प्रमाद करता है। इस एक श्रेणीमें कर्मेन्द्रियके प्रमादी कहे गये।

म्लेच्छ यवन स्पर्श योग्य नहीं था, त्वचाका प्रमादी था। किरात नेत्रोंसे देखकर लोगोंके धन-वस्त्र आदि चुराते थे और हिंसा भी करते थे; अतः नेत्रके प्रमादी थे। खश जातिके लोगोंमें प्रसिद्ध भक्त नहीं पाया जाता। अतः क्रमानुसार इसे रसनाका प्रमादी जानना चाहिये। ऐसे ही आभीरोंको श्रवणका प्रमादी जानना चाहिये। श्वपच जाति नासिकाके मलिन होते हैं, श्वान, गीदड़ आदिको भी खाकर पचा जाते हैं, उसकी दुर्गन्धिसे उन्हें वमन नहीं होता, इत्यादि इस श्रेणीमें ज्ञानेन्द्रियके प्रमादियोंको कहा है।

अब मनको दिखाते हैं कि देखा? क्या तेरे प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा इन दसोंसे अधिक पाप हुए हैं? जब ये सब जैसे-तैसे नाम लेनेसे तर गये। तब तू क्यों नहीं तरेगा? अतएव श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नाम जप, अवश्य कल्याण होगा।

नोट—१ *'कहि नाम बारक……'* इति यथा—*'बारक नाम जपत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥'* इससे दिखाया कि नाममें ऐसी महान् शक्ति है कि ऐसे पापरूप लोगोंके पापसमूहोंको तथा उनके पाप-संस्कारोंको भी भस्म कर देती हैं। पूर्व भी कहा है, *'बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥ सादर सुमिरन जे नर करहीं। भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥'* (१। ११९। ३-४) मनुष्यके शरीरमें तभीतक पाप ठहरते हैं जबतक वह अपनी जिह्वासे श्रीरामनामका उच्चारण नहीं करता। यथा—'**तावत्पापं मनुष्याणामङ्गेषु नृप तिष्ठति। यावद्रामं रसनया न गृह्णाति सुदुर्मतिः॥**' (प० पु० पाताल० ३०। ५१), '**सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामरामस्मरणं क्रियते पापतारकम्॥ तावद् गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया॥……तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम्॥**' (प० पु० पाताल० ३७। ५१—५३, ५६) (अर्थात्) सभी वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है

कि रामनामका स्मरण पापोंसे उद्धार करनेवाला है। (श्रीआरण्यकमुनिने श्रीरघुनाथजीसे कहा कि) ब्रह्महत्या-जैसे पाप भी तभीतक गर्जना करते हैं जबतक आपके नामोंका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। आपके नामोंकी गर्जना सुनकर महापातकरूपी गजराज कहीं छिपनेके लिये स्थान ढूँढ़ते हुए भाग खड़े होते हैं।"""महापाप करनेके कारण कातर हृदयवाले पुरुषोंको तभीतक पापका भय बना रहता है जबतक वे अपनी जिह्वासे परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करते। रामनाम पापसमूहको इस तरह भस्म कर देता है जैसे अग्नि रूईके पर्वतको क्षणमात्रमें जला डालता है। यथा—*'जासु नाम पावक अघतूला'*, '**अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥**'(भा० ६। २। १८) इत्यादि। पूर्व भी बहुत प्रमाण यथास्थान दिये जा चुके हैं। भगवान्‌ने जीवोंके कल्याणके लिये अपने नाममें अपनेसे अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। यथा—'**स्वयं नारायणो देवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः। आत्मनोऽभ्यधिका शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः॥**'(प० पु० स्वर्ग० ५०। २४)—ऐसे पतितपावनको गोस्वामीजी मङ्गलार्थ नमस्कार करते हैं।

☞'श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों सभीमें नामकी महिमा गायी गयी है। हम लोगोंको लाख-लाख नाम जपते देखते हैं और स्वयं जपते हैं, फिर भी जो फल सुननेमें आता है वह कहीं देख नहीं पड़ता, इससे हमको उसमें विश्वास नहीं होता।'—ऐसा बहुत-से श्रद्धालु नाम-जापकोंको कहते देखते हैं। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि हमको उसमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास नहीं है, इसीसे हमको उसमें जो फल हम अनुभव करना चाहते हैं वह नहीं देख पड़ता।—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'* और *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* हम श्रीमद्गोस्वामीजी, श्रीनामदेवजी, श्रीकबीरजी इत्यादिको अपने सामने आदर्श क्यों नहीं रखते? उनके समयमें भी तो नाममें विश्वास रखनेवाले कितने थे? पर इन महापुरुषोंने विश्वाससे उसी नाम-बलपर क्या नहीं कर दिखाया? आज भी श्रीअवधमें हमें श्री १०८ महाराज रामशरण मौनीजी इत्यादि श्रीरामनामकी ध्वजा फहराते दीख रहे हैं। और जो नामका प्रभाव यहाँ जङ्गलमें प्रत्यक्ष दीख रहा है उसे कौन नहीं जानता? भगवान् श्रीरूपकलाजीसे किसीने प्रश्न किया था उसपर उन्होंने भी विश्वासके विषयमें ये वचन कहे थे कि श्रीराम-नाम मुख्य है, विश्वास शून्यवत् है; पर वही विश्वास जब नामके साथ लग जाता है तब उसकी कीमत दसगुणा हो जाती है—*'रामनाम को अंक है सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून॥'* *

नाम-जपका फल यह तो अवश्य होगा कि जापकका कल्याण होगा, वह भवसागर पार हो जायगा, इसमें तो किञ्चित् संदेह है ही नहीं; पर यदि इससे प्रत्यक्ष लाभ देखना चाहते हैं तो इसमें श्रद्धा और विश्वास बढ़ाइये। फिर पूर्ण विश्वास होनेपर क्या नहीं हो सकता? शिवजी कालकूट पी लेते हैं, प्रह्लादजीकी रक्षा सब आपत्तियोंसे एक रामनाम ही कर लेता है, अगस्त्यजी श्रीरामनामके ही प्रभावसे समुद्र सोख लेते हैं। नाममें जैसे-जैसे विश्वास होगा तैसे-तैसे उसमें प्रेम भी बढ़ेगा, एक-एक नामके उच्चारणमें दशा यह होगी—*'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। नाम जीह जपु लोचन नीरू॥'* सोते-जागते, उठते-बैठते नाम बिना कब चैन पड़ेगा? यह दशा हो जायगी।—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती', 'प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।'* नाम-जपका प्रत्यक्ष फल अपनेमें न देख पड़नेका दूसरा कारण यह है कि हम नाम तो जपते हैं पर दस नामापराध जो पद्मपुराण इत्यादिमें बताये गये हैं, उनसे बचनेका प्रयत्न न करके नित्य प्रति उन अपराधोंको किया करते हैं। अपराधोंकी व्याख्या महात्मा श्रीहरिदासजी रसिकने अपने अप्रकाशित भाष्यमें बड़े विस्तारसे की है। श्रीकृष्णप्रेम भिखारीजी-(अंग्रेज वैरागी वैष्णव महात्मा) ने पिछली बार मुँगेरमें श्रीहरिनामयश-संकीर्तन-सम्मेलनके अवसरपर अपने व्याख्यानमें इनके विषयमें जो कहा था उसका सारांश हम यहाँ देते हैं—

'दस अपराध ये हैं—१ भागवत-निन्दा, २ हरि-हरमें भेदबुद्धि ३ गुरुमें मनुष्यबुद्धि, ४ श्रुति-स्मृति आदिकी निन्दा, ५ नाम-महिमाको अर्थवाद बतलाना, ६ नामकी कुव्याख्या, ७ नाम-बलपर पाप करना, ८ अन्य साधनको नामके तुल्य कहना, ९ श्रद्धाहीनको नामोपदेश करना और १० नाम-माहात्म्य सुनकर प्रसन्न न होना।'

इनमेंसे और सब तो लोग साधारणतया समझ सकते हैं। यहाँ केवल तीसरे और दसवेंपर कुछ लिखा

* ये महात्मा इस संस्करणके पूर्व ही साकेतवासी हो चुके हैं।

जाता है।— ३— 'गुरु भगवान्‌की ही मूर्ति हैं, भगवान् ही हैं, जो किसी खास भक्तके लिये उसके अधिकारके अनुकूल ही खास रूप धारणकर उसका हित करते हैं, जितनेके हम अधिकारी होते हैं उतनी ही बुद्धि, उतनी ही योग्यताके अनुकूल हमारे भगवान् हमारे लिये गुरुरूप धारण करते हैं। उनमें शक्ति पूर्ण है, पर हममें उसकी योग्यता न होनेसे वह शक्ति प्रकट नहीं होती। वे मनुष्य नहीं हैं पर हम उनमें मनुष्य-बुद्धि रखते हैं, उनके उपदेशका तभीतक पालन करते हैं जबतक वह हमारे सिद्धांतके अनुकूल होता है।' श्रीकृष्णप्रेमीजी अपना अनुभव बतलाते थे कि—'कई बार ऐसा हुआ कि मेरे चित्तमें आया कि हमारे गुरु तो अंग्रेजी शिक्षा पाये नहीं हैं तब उनसे सांसारिक सम्बन्धी बातोंमें उपदेश लेना अथवा उस उपदेशपर चलना ठीक नहीं। उसका फल क्या हुआ? यही कि मुझे उन कामोंमें सफलता न हुई। और, जब-जब उनके बलपर कार्य किया तब-तब सफलता हुई। तबसे प्रत्येक कार्यमें चाहे वह भगवत्-सम्बन्धी हो, चाहे सांसारिक उनके ही उपदेशोंका अनुसरण करता हूँ। यह कहना भूल है कि आजकल वैसे गुरु नहीं देखनेमें आते जैसे शास्त्रों, इतिहासोंमें सुने जाते हैं; क्योंकि हमारी योग्यता, हमारे अधिकारके योग्य ही भगवान् गुरुरूपसे मिलेंगे। आलू काटनेके लिये छुरीकी ही जरूरत होती है, तलवारकी नहीं।'

गुरु आज भी वैसे ही हैं। यदि हम श्रद्धापूर्वक उनकी इच्छा करें तो मिलते ही हैं। हमारे हृदयमें मैल भरा है तब हम दूसरेको मलरहित कब देख सकते हैं?

१०—'दसवाँ अपराध किससे बचता है? विचारिये तो यदि हमारे सामने कोई हरिगुण वा हरिनामका सत्सङ्ग करता है तो थोड़ी देर बाद हमारा धैर्य जाता रहता है, हम कहते हैं कि अरे! यह तो बहुत सुना है, कब ये महात्मा समाप्त करें। सच्चे नाम-जापक या कथारसिक तो इनके सत्सङ्गमें दिन और रात जानते ही नहीं कि कब आये और कब गये।'

पं० श्रीकान्तशरण—ग्रन्थकारने इस छन्दमें अपने दैन्य (प्रपत्ति) घाटके अन्तर्गत कर्मकाण्डके फलकी प्राप्ति दिखायी है। पतितोंका पावन होना शुभ कर्मका फल है। तीनों घाटोंके वक्ताओंका आवाहन उन्होंने ही किया है, अतएव यहाँ कर्म घाटवाले याज्ञवल्क्यजीका मत प्रपत्तिके अन्तर्गत दिखाया। आगे छन्दमें अविद्या निवृत्तिसे ज्ञानका फल और फिर तीसरे छन्द *'सुन्दर सुजान'''''*' में स्वरूपका वर्णन एवं महत्त्व होनेसे उपासनाका सर्वस्व होना दिखावेंगे, क्योंकि शरणागतिमें काण्डत्रयकी व्यवस्था अनायास स्वयं हो जाती है। यथा—'**भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥**'(भा० ११। २। ४२-४३) अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्रत्येक ग्रासपर क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति साथ ही होती जाती है, वैसे ही शरणागति करते हुए भक्ति, परेशानुभव (ज्ञान) और विधिवत्कर्मानुष्ठानका फल वैराग्य स्वतः होता जाता है।

नोट—'***पाई न केहि गति''''''कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते।***' इति। श्रीमद्भागवतकी समाप्ति भी इसी प्रकार हुई। यथा—'**नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥**'(१२। १३। २३) दोनोंने भगवान्‌के नामका महत्त्व कहते हुए उनको नमस्कार किया है।

रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रीरघुवंशभूषणजीका यह चरित कहते हैं, सुनते हैं या गाते हैं, वे कलिमल और मनके मलको धोकर बिना परिश्रम ही रामधामको सीधे जाते हैं।*

---

* दशरथसुतजन्मकारणं यः पठति शृणोत्यनुमोदते द्विजेन्द्रः। व्रजति स भगवद् गृहातिथित्वं न हि शमनस्य भयं कुतश्चिदासीत्॥ (अद्भुतोत्तर रामायण ४-८०) अर्थात् जो पढ़ता, सुनता या अनुमोदन करता है। वह भगवद्धामका अतिथि होता है। उसे यमका भय कभी कहीं नहीं रहता।

नोट—*'रघुबंसभूषनचरित यह नर……'* इति। (क) श्रीरामजी रघुकुलभूषण हैं; यथा—*'परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥'* (४८। ८) *'निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्यो॥'* (७। २ छन्द) *'जे नर'* कहकर जनाया कि कोई भी हो, किसी वर्ण या आश्रमका हो, अथवा चतुर्वर्णोंसे बाहरका हो, किसी भी जाति-पाँतिका हो, सबको रामचरितके कहने, सुनने और गानेका अधिकार है। यथा—*'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।'* (४। ३०), *'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥'* (१। १५। १०-११) (ख) कलिमल=कालकृत दोष। *'कलि केवल मलमूल मलीना'* है। मनोमल=व्यक्तिगत अन्तःकरणके दोष। कलिमें लोगोंका मन पापमें डूबा रहता है। श्रीरामचरितके कहने-सुनने आदिसे कालकृत दोष और मनोमल दोनों नष्ट हो जाते हैं; मन स्वच्छ हो जाता है, कलिके विकार नहीं रह जाते। कहने, सुनने, गानेमात्रसे ऐसा हो जाता है, रामधामकी प्राप्ति होती है; अतः कहा कि *'बिनु श्रम'*। कहने-सुनने-गाने-बजानेमें कौन श्रम! (ग) *'धोइ……सिधावहीं'* का भाव कि कलिमल और मनोमलके नष्ट हुए बिना राम-धामकी प्राप्ति नहीं होती। अतः चरित वह काम पहले ही कर देता है।

पं०—*'श्रीरामधाम……'*=श्रीरामस्वरूपको प्राप्त होंगे।—[पर यहाँ *'सिधावहीं'* क्रिया इस अर्थका निषेध करती है। इससे धामका 'लोक' ही अर्थ यहाँपर गृहीत है। श्रीरामधामके विषयमें दोहा ४ (४—८) और १५ (३-४) इत्यादिमें लेख आ चुके हैं। *'रघुबंसभूषन'* *'कहहिं सुनहिं गावहिं'* इत्यादि भी पूर्व आ चुके हैं]।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'इस छन्दमें श्रीशिवजीके ज्ञानघाटका तात्पर्य आना दिखाते हैं, पहले चरितके द्वारा हृदयकी शुद्धि कहते हैं, साथ ही श्रीरामधामकी प्राप्ति भी अभी ही छन्दके पूर्वार्द्धमें कह देते हैं, हृदय-शुद्धिके पीछे अविद्यानिवृत्ति होनेपर परमधामकी प्राप्ति होती है; यथा—'**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते**।' (ईशा०) अर्थात् अविद्यावाच्यकर्मसे पाप शुद्धकर विद्यावाच्य ज्ञानोपासनासे मुक्ति होती है। अविद्यानिवृत्ति आगे उत्तरार्धमें कहेंगे, वही ज्ञानोपासनाका कार्य है। फिर वहाँ धामप्राप्ति न कहकर इसी पूर्वार्धके *'रामधाम सिधावहीं'* से तात्पर्य जनावेंगे। कलिमल और मनोमल छूटना निष्काम शुभकर्मका फल है, वह चरितसे कहा गया, क्योंकि '**धर्ममार्गं चरित्रेण**' (राम० ता० उ०) पूर्व भी कहा है—*'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥'* पुनः सम्पूर्ण चरितके पठन-पाठनसे जब कोई इस ग्रन्थका तात्पर्य समझकर उसे हृदयमें धारण करेगा, तब उसका अविद्याजनित विकार सदाके लिये नहीं रह जायगा, यही आगे *'सत पंच चौपाई……'* से कहते हैं।

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे*।
दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर† हरे॥ २॥

अर्थ—जो मनुष्य *'सतपंच'* चौपाइयोंको मनोहर जानकर हृदयमें धारण करते हैं, करेंगे और जिन्होंने धारण किया है उनके दारुण पंचपर्वा अविद्याजनित विकारोंको श्रीरघुबर रामचन्द्रजी हरण करते हैं, करेंगे और किया है॥ २॥

नोट—*'धरे'* *'हरे'* में भूत भविष्यत् काल भी जना दिया है।

'सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।' इति।

गौड़जी—सतपंचका अर्थ लोगोंने अनेक तरहसे किया है। परन्तु मेरा मत है कि यहाँ ग्रन्थकारने एक बहुत आवश्यक और प्रयोजनीय काम किया है। रामचरितमानस भगवान् शंकरका रचा ग्रन्थ है। गोस्वामीजीने इसे भाषा-पद्यमें इस ढंगपर लिखा है कि मूलकी कोई बात छूट न जाय और बाहरसे कोई बात निराधार और अप्रामाणिक जुड़ न जाय। जिस ग्रन्थकी फल-श्रुति—*'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥'* (१। १५। १०), *होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥'* (११), **सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।**

* 'धरहिं' 'हरहिं'-(गौड़जी)। † रघुपति—(पाठान्तर)।

तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥' (१५) आरम्भमें ही इस प्रकार दी गयी है, उसका महत्त्व किसी मन्त्र-शास्त्र या संहितासे कम नहीं है। इसलिये ग्रन्थकारको इस बातका पूरा खयाल है कि इसमें किसी तरहके क्षेपक न जोड़े जायँ। यह अन्तिम छन्द है, जहाँ मानसकारको ग्रन्थ संख्या देना जरूरी है। रामचरितमानस 'चौपाई रामायण' के नामसे प्रसिद्ध है और बात भी ऐसी ही है कि चौपाई-छन्द ही इस ग्रन्थमें प्रधान हैं। पाठकका जी ऊब न जाय इसीलिये बीच-बीचमें छन्द, सोरठा, दोहा इत्यादि देकर चौपाइयोंकी शोभा बढ़ायी गयी है। यथा—'***पुरइन सघन‴सोहा***'। इसका प्रमाण यह भी है कि दोहों या सोरठोंमें अन्तमें जो संख्या लगायी गयी है वह चौपाइयोंके समूहकी संख्या है, दोहों या सोरठोंकी संख्या नहीं है। जैसे बालकाण्डमें १२० वें चौपाई-समूहके अन्तमें तीन सोरठे हैं, परंतु केवल अन्तिम सोरठेपर चौपाई समूहका अंकमात्र १२० दिया हुआ है जो कि समूहका अंक है सोरठोंका नहीं। चौपाई पुरइनके पत्ते हैं जो कि रामकी महिमारूपी जलको पूर्णतया ढके हुए हैं। अर्थात् रामयश इन्हीं चौपाइयोंके भीतर है। छन्द, सोरठा और दोहा तो कमलकी तरह निकले हुए हैं, ये शोभामात्रके लिये रंग-बिरंगे कमल हैं। ग्रन्थकार जब चौपाइयोंको ही इतना महत्त्व देता है तो अन्तमें चौपाइयोंकी ही संख्या वह दे दे तो ग्रन्थके पद्य-संख्याकी सीमा ऐसी बँध जाती है कि बाहरकी मिलावटका पता तुरंत लग सकता है। '**अङ्कानां वामतो गतिः**' के अनुसार '***सतपंच***' का अर्थ होता है-५१००। अर्थात् रामचरितमानसमें आदिसे अन्ततक कुल ५१०० चौपाइयाँ हैं।

इन चौपाइयोंकी गणना कैसे की जाय? छन्दःशास्त्रके पण्डित प्रत्येक छन्दके चार चरण मानते हैं। एक चौपाईके चार चरण तो उनके नामसे ही स्पष्ट हैं। परंतु रूढ़ि इस बातका समर्थन नहीं करती। मानसकारके पहले मलिक मुहम्मद जायसीने पद्मावत लिखा, यह भी चौपाईमय ग्रन्थ है। इसमें नियमसे चौदह चरण चौपाइयोंके देकर दोहा रखा गया है। यदि चार चरणोंका प्रमाण माना जाय तो जायसीने सर्वत्र साढ़े तीन चौपाइयाँ दी हैं। परंतु साढ़े तीनका कोई हिसाब नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि जायसीने चौपाईको उसी तरह द्विपदी माना है। जैसे उर्दू, फारसीवाले 'बैत' को द्विपदी मानते हैं। गोस्वामीजीने दोनों परिपाटी रखी है। अयोध्याकाण्डमें आदिसे अन्ततक चार-चार चौपाइयोंके समूह हैं। इसका अपवाद कहीं नहीं है।* परंतु और काण्डोंमें ऐसे नियमका पालन नहीं किया है। किसी चौपाई पुञ्जमें ग्यारह द्विपदी हैं, किसीमें तेरह और किसीमें आठ, दस और बारह भी हैं। कहीं ऐसे बड़े पुञ्ज हैं कि उन्तीस द्विपदियाँ भी आ गयी हैं। अब चौपाइयोंकी गणना किस प्रकार की जाय? पण्डित महावीरप्रसादजी मालवीयने अपनी टीकामें छन्दःशास्त्रके नियमानुसार चार-चार चरणकी चौपाइयाँ गिनी हैं और विषम संख्यावाले पुञ्जकी बची हुई द्विपदीको अर्द्धाली माना है। इस तरह चौपाइयोंकी संख्या पाँच हजार एक सौ नहीं आती।

मालवीयजीकी गणना-पद्धति छन्दःशास्त्रके नियमसे तो ठीक है परंतु उन्होंने जायसी आदि पूर्व कवियों द्वारा स्थापित रूढ़िपर ध्यान नहीं दिया। मेरी समझमें जिस चौपाई पुञ्जमें द्विपदियोंकी विषम संख्या है उसमें द्विपदीको ही पूरी चौपाई मानना पड़ेगा। यदि पुञ्जमें तेरह द्विपदियाँ हैं तो उन्हें तेरह चौपाइयाँ गिनना पड़ेगा। परंतु यदि पुञ्जमें सम संख्या है तो चार-चार चरणोंकी एक-एक चौपाई गिनना उचित होगा। इस तरह जब हम सातों काण्डोंकी चौपाइयोंकी पूरी संख्या लेते हैं तो वह पाँच हजार एक सौ हो जाती है।

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है—'पाँच हजार एक सौ मनोहर चौपाइयोंको जान ले। भाव यह है कि आदिसे अन्ततक रामचरितमानसके मनोहर भावोंको अच्छी तरह समझ ले, हृदयङ्गम कर ले, उनके मनोहर अर्थोंको जो मनुष्य (उर धरे) हृदयङ्गम कर ले उसके दारुण पञ्चपर्वा अविद्याजनित सारे विकार भगवान् हर लें। अर्थात् वह अपने स्वरूपको पहचान ले और प्रभुके चरणोंमें पहुँच जाय।'

* 'सत पंच चौपाई मनोहर जानि' *

नोट—रामायणी पण्डितोंने इसके अनेक प्रकारके अर्थ किये हैं जैसे कि—

---

* अपवाद कहीं-कहीं देखनेमें आता है। जैसे कि दोहा ८, ६४, १७३ में सात-सात अर्धालियाँ हैं। पर ऐसा बहुत कम है।

वि० टी०—शतपंच अर्थात् ५०० मनोहर चौपाइयोंको छाँटकर।

मा० म०—इस रामचरितमानसमें ५१०० चौपाईका होना सिद्ध है और छन्द, सोरठा, दोहा सब मिलकर ९९९० श्लोक हैं।

मा० शं०—रामायण सतपञ्च है, सच्चा पञ्च है। इसमें सत्यकी प्रशंसा और असत्यका खण्डन है। जैसे कि *'राज कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहै हरिचरित बखाने॥'* रामायणको सतपञ्च जानकर धारण करे, उसके वचनोंपर तत्पर हो जाय, अथवा ५१०० दण्डकपद रामायणमें हैं उनको धारण करे।

करु०—(क) *'गोसाईं'* तुलसीदासजी सातों काण्डोंके दोहा, चौपाई, छन्द समेटकर अनुष्टुप् श्लोककी गिनती कहते हैं। 'शत' अर्थात् शत लिखकर उसके वामदिशिमें फिर पाँचका अङ्क लिखे तो ५१०० होते हैं। एक चौपाई चार चरणकी होती है। एक-एक चरण सोलह मात्राका होता है। ऐसे चार चरणका एक चौपाई छन्द होता है। ५१०० छन्द इसमें हैं।

(ख) और अर्थ *'सतपंच'* शब्दोंको लेकर अपनी उक्तिसे करते हैं—*'सतपंच'* से तीन प्रकारके पञ्चोंका बोध होता है। एक तो सतपञ्च, दूसरे पञ्च, तीसरे असत् पञ्च। सत् पञ्च वे हैं जो पञ्च नियुक्त होनेपर चाहे अपना पुत्र-पिता-बन्धु-मित्र ही क्यों न हो और चाहे दूसरा शत्रु ही क्यों न हो, वे यथार्थ ही कहते हैं। पञ्च वह हैं जो समझकर तो कहते हैं पर अपने हित-मित्रादिके पक्षमें अधिक कहते हैं। और असत् पञ्च वे हैं जो सच्चेको झूठा और झूठेको सच्चा करते हैं।—यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते हैं—ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थके तीन प्रकार हैं। एक शुद्धसात्त्विक जहाँ केवल परमेश्वर रामचन्द्रजी प्रतिपाद्य हों और उनके आश्रय सात्त्विक देवता, कर्म-धर्म, वैराग्य-योग-ज्ञान-ध्यान-समाधि-भक्तिका शुद्ध वर्णन हो अर्थात् केवल परमेश्वरकी प्राप्ति-हेतु इनका वर्णन हो, ऐसा ग्रन्थ सतपञ्च है। जहाँ इन सत् पदार्थोंका वर्णन स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये है, वे राजस ग्रन्थ पञ्च हैं। और जिन् ग्रन्थोंमें तामसी देवताओंका आराधन साधन तथा अर्थ-धर्म-कामकी प्राप्तिका वर्णन है वह असत् पञ्च हैं।……

गोसाईंजी कहते हैं कि यह जो चौपाई छन्द प्रबन्ध ग्रन्थ मैंने किया है, यह सतपञ्च है, मनोहर है और सत्यवादी है। जीव और मनका जो झगड़ा अनादिकालसे चला आता है उसके चुकानेके लिये यह सतपञ्च है।

पं०—सतपञ्च=५००। मनोहरका भाव कि भगवद्यंशमिश्रित जो परमसुन्दर मैंने बनायी है। कलिवर्णन, रावण-दिग्विजय, गङ्गा, नारदका आगमन, विराधयुद्ध, कपिसंख्या इत्यादि कथाएँ क्षेपक मानकर इस ग्रन्थमें उनको अलग कर दिया है। इसी तरह और भी क्षेपक होंगी। अथवा, सतपञ्च=द्वादश। इत्यादि।

शीला—(१) सतपञ्च=सात पाँच, यह लोकोक्ति है, बोलचाल है। सात कहकर पाँच कहनेका भाव कि अविद्याके सप्तावरण हैं सो सात चौपाइयोंसे सातों आवरण टूट जायँगे, फिर पञ्च चौपाईसे पञ्चविकार श्रीरघुनाथजी हरेंगे। पुनः, (२) ७+५=१२। १२ ही राशिपर सारा जहान और सारे जीव हैं अतः १२ हीसे सबको मङ्गलकारी होंगे। १२ मासका वर्ष होता है, एक-एक माससे पातक हरनेको एक-ही-एक भी पर्याप्त है। इत्यादि। थोड़ेसे बहुत काम होनेमें चोखापन रहता है, *'बात बहुत काम थोड़ा'* में न्यूनता होती है। १०५ बहुत हैं, ऐसा अर्थ करनेमें बहुत-सी छटनीमें पड़ जाती हैं।—(रा० प०—सतपञ्च अर्थात् अल्प-से-अल्प)

पां०—गोसाईंजी अपने काव्यका माहात्म्य कहते हैं कि—(क) इसकी पाँच-सात मनोहर चौपाइयोंको जानकर जो हृदयमें धारण करते हैं उनके कामादि पंच विकार हरण होते हैं। पुनः, (ख) इस पदसे ग्रन्थकी संख्या लिखते हैं ५१०० ही चौपाइयाँ इसमें हैं। श्लोक, छन्द, दोहे और सोरठे इसके अतिरिक्त हैं। पुनः, (ग) सब चौपाइयाँ सच्चे पंच हैं, इनको जो मनोहर जानकर हृदयमें धरे……। पंच विवाद निबटाते हैं। ये पंचदेवोपासनावालोंके विवादके पंच हैं, जिसका जैसा माहात्म्य है उसका निर्णय करती हैं। इसमें शंका यह होती है कि पंच तो चौपाइयाँ ठहरीं तब पंचविकारको रघुनाथजी क्यों हरते हैं। समाधान यह है कि जो पंचवादी प्रतिवादीसे निर्मल हों तो निबटेरा करके राजसभामें भेज देते हैं और राजा उसीके अनुसार आज्ञा देता है। सो, इन चौपाइयोंके न्यायको रघुनाथजी अङ्गीकार (करके) वादियोंके आग्रह विकारको हर लेते हैं।

वीरकवि—चौपाइयोंपर सतपंचका आरोप और अविद्यामायाके सहायकोंपर असतपंचका आरोपण 'सम अभेदरूपक अलङ्कार' है। सतपंचोंके सहायक श्रीरघुनाथजी हैं, यह उनमें अधिकता है। सतपंच चौपाईके अर्थमें बड़ी धींगाधींगी लोगोंने मचा रखी है। कोई १०५, कोई ५०० और कोई ५१०० चौपाइयोंको सतपंच मानते हैं और शेष रामचरितमानसकी चौपाइयाँ उनके विचारसे असतपंच हैं। इसपर लोगोंने अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं, यहाँतक इसकी समाप्ति नहीं हुई है। एक सज्जनने गोस्वामीजीके नामसे पुस्तिका लिखकर यही बात कही है। इस महाजालकी कोई हद नहीं है। उन महापुरुषोंको यह नहीं सूझ पड़ा कि जिस रामायणकी आदिसे अन्ततक स्थान-स्थानमें गोस्वामीजीने भूरि-भूरि प्रशंसा की है; फिर वे अपने मुखसे यह कैसे कहेंगे कि केवल ५०० चौपाइयाँ सतपञ्च हैं और बाकी 'असतपंच'। उनके कहनेका तात्पर्य तो यह है कि रामायणकी चौपाइयाँ सच्चे पंचके समान हैं और सच्चा फैसला देती हैं, इनकी सच्चाईकी सहायता करनेवाले रघुनाथजी हैं। जो इनके निर्णयको हृदयमें धारण करेंगे उनके हृदयसे अविद्याके असत्पंचोंकी धींगाधींगीका दोष रामचन्द्रजी मिटा देते हैं। जैसे लोकमें जो प्रतिष्ठित पंचोंके फैसलेको नहीं मानता उसको अदालत विवश करके मनवाती है। उसी प्रकार रामायणकी चौपाई रूपी सतपंच फैसलेको न मानकर विकार हृदयमें आना चाहेंगे तो बड़ी अदालतके हाकिम उन्हें रोक रखेंगे, आने नहीं देंगे।

रा०प०, रा० प० प०, रा० प्र०—सतपञ्च अर्थात् एक दो भी, अल्प-से-अल्प। यहाँ माहात्म्य कथनमें थोड़े कथनका मर्याद है।

नोट—इसी प्रकार कोई 'सतपंच' से ३५ का अर्थ करके इस काण्डमें भुशुण्डिद्वारा कही हुई मूलरामायणको ही अभिप्रेत समझते हैं, क्योंकि उसमें *'कहइ लाग रघुपति गुनगाहा'* से *'सुनि सब रामकथा खगनाहा॥'* तक ३५ अर्धालियाँ हैं। कोई इससे ५७ और कोई ७५ का अर्थ लेते हैं और अपनी-अपनी भावनानुकूल महानुभावोंने उस भावनाको गुप्त न रखकर छपा-छपाकर प्रकट किया है—ये नामपरत्वकी, ये रूपपरत्वपरक, ये ध्यानवर्णनवाली, ये स्तुतिवाली (इत्यादि)-ही १०५ , ५००, ३५, ५७ या ७५ 'सतपंच' चौपाइयाँ मनोहर हैं। जिसका आशय ध्वनिसे यही निकलता है कि अन्य मनोहर नहीं हैं।

श्रीस्वामी पं० रामवल्लभाशरणजीका मत है कि 'सतपंच' से पाँच-सात-(अर्थात् थोड़ी-बहुत कुछ भी-) का अर्थ सर्वोत्तम है। यहाँ ग्रन्थकार रामचरितमानसका माहात्म्य कहते हैं कि पाँच-सात (अर्थात् कुछ भी) चौपाइयोंको भी जो हृदयमें धारण करेंगे उनके भी मनोमल धो जायँगे। इसकी तो प्रायः प्रत्येक चौपाई रामनामके अक्षरोंसे युक्त है, अङ्कित है, पाँच-सातका यह फल है तब समग्रके धारणके फलका तो कहना ही क्या? वह तो अकथनीय है।

रामचरित तो अपार है—*'रामायन सतकोटि अपारा।'* तब यह समग्र ग्रन्थ उस अपारके सामने ५-७ चौपाइयोंके ही सदृश है। ५—७ बोल-चाल है। इससे कविने सारा ग्रन्थ सूचित किया है। अर्थात् यह थोड़ा बहुत जो कुछ मैंने कहा है इसे जो मनोहर जानकर हृदयमें धारण करें उनके कलिमल धुल जायँगे।' यह अर्थ भी संगत है पर महत्त्व अधिक श्री पं० रामवल्लभाशरणजीवालेमें है। बाबा हरिदासजीने जो कहा है कि बात थोड़ी और काम बहुत हो वह यथार्थ ही है।

अच्छे कवि अपने ग्रन्थकी संख्या अवश्य कहीं-न-कहीं गुप्तरूपसे दे देते हैं वैसे ही यहाँ माहात्म्य कहते समय 'सतपंच' से महाकविने ग्रन्थकी संख्या भी कर दी है। यह भी अनुमान विशेष ठीक समझ पड़ता है।

भगवान्‌के सभी चरित मनोहर हैं और यह काव्य तो 'शिवकृपा' से सुशोभित है। इसकी चौपाइयाँ साबर मन्त्र-सदृश फलप्रद हैं तब यह कहना कि अमुक ३५, ५७, ७५, १०५, ५०० चौपाइयाँ ही मनोहर है, कहाँतक ठीक हो सकता है, इसपर विचारवान् पाठक स्वयं विचार करें। क्या राम-रावण-समर-चरित, जिसके विषयमें कहा है कि—*'यह रावनारिचरित पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादि हर बिज्ञान कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥'* मनोहर नहीं है? नहीं है तो उसे सुर सिद्धादि क्यों प्रसन्नतासहित गान करते हैं और इस चरितके विषयमें शिवजी क्यों कहते कि *'हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रन रंगा॥'*

इसी तरह चित्रकूट, दण्डकारण्यमें श्रीसीता और लक्ष्मणजीसहित बसकर जो १३ वर्षके लगभग चरितवाली चौपाइयाँ, मारीचकी हार्दिक प्रीति, जटायु और शबरीकी अनुपम गति, यत्र-तत्रके श्रीवचनामृत, मगवासियों तथा गुप्त तापसके प्रेमकी कथाएँ, श्रीभरत और पुरवासियोंका प्रेमदर्शन, चित्रकूट-दरबार इत्यादि-इत्यादि प्रसंगोंकी चौपाइयाँ क्या मनोहर नहीं हैं? आपको कौन-सी अमनोहर लगती हैं? और-तो-और श्रीरामविलाप तथा श्रीरामप्रलाप ये दोनों भी मनकी कुटिलता दूर करनेवाले प्रसंग हैं, श्रीरामजीका तिलक सुनकर पछताना भी ऐसा ही कहा गया है—*'हरउ भगत मन की कुटिलाई।'* जो मनको हरण करके प्रभुमें लगा दे वही मनोहर है। मनकी कुटिलताको दूर करनेवाला प्रसंग इस प्रकार अवश्य ही मनोहर हुआ। सरकारी चरितमें उपदेश-ही-उपदेश तो भरा है तब ग्रन्थको छाँट डालना केवल कुछ इनी-गिनी चौपाइयोंको मनोहर कहना ठीक नहीं जान पड़ता। जिसको इस ग्रन्थकी इन इनी-गिनी चौपाइयोंमें ही प्रेम हो अन्यमें नहीं, वह कविके मतानुसार रामोपासक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे रामोपासकका लक्षण यह कहते हैं—

'राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥'

'एहि' का निर्देश ऊपर कथित वाक्यकी ओर है—*'यह सुभ संभु उमा संबादा।'*

☞ अतएव मुख्य तात्पर्य तो यही विशेष संगत जान पड़ता है कि जैसे वाल्मीकि, भागवतकार आदिने उन ग्रन्थोंका माहात्म्य कहा है कि इसका एक श्लोक, आधा श्लोक या चौथाई ही श्लोक पाठ कर लेनेसे परम गति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इसका एक-एक अक्षर अनेक पातकोंका हरण करनेवाला है। यथा—**'श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्। पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्॥'** (भा० माहात्म्य ३। ३३) **'गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम्। द्वित्रिएक हृदये वा श्लोकानां यः पठेन्नरः॥'**, **'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्'**—(वाल्मी० माहात्म्य)।'

वैसे ही यहाँ श्रीमद्गोस्वामीजी इस ग्रन्थका माहात्म्य कहते हैं कि ५—७ भी चौपाइयोंका मनन-स्मरण करनेसे यह फल प्राप्त हो सकता है। (गीतामाहात्म्यमें भी 'सप्तपंच' पद आया है, यह भावकी पुष्टि भी करता है। और साथ-ही-साथ गुप्त रीतिसे संख्या भी कर दी गयी है जिसमें लोग मेल न कर दें। यही एक ढंग शुद्ध प्रतिकी खोजका है।

हाँ, अल्पवाचक पाँच-सातसे लोग चाहे १०५, चाहे ५००, चाहे १२, ३५, ५७, ७५ इत्यादि चाहे जितनी चौपाइयोंका पाठ करें तो हर्ज नहीं, जो उनको बहुत रुचिकर हों वही पाठके लिये चुन लें तो हर्ज नहीं, यह मानसकार उपासककी रुचिपर छोड़ते हैं। है तो सारा-का-सारा ग्रन्थ मनोहर, यहाँतक कि वनगमनतकके लिये कवि *'सुहावा'* विशेषण दे आये हैं—*'कहेउँ राम बन गवन सुहावा'* पर उसमेंसे पाँच-सातसे लेकर जितनी और जो जिसके भावानुकूल हों, जितनेकी जिसको प्यास हो, जितनेसे जिसकी तृप्ति हो जाय, जितना जिससे सधे वह उसीका पाठ कर सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं, आपत्ति इसमें है कि वे हठ करते हैं कि बस हमारी चुनी हुई यही १०५, ३५ इत्यादि मनोहर हैं और इसीको कविने हृदयमें धारण करनेका उपदेश किया है।

यह वादियों-प्रतिवादियोंको स्मरण रहे कि गोस्वामीजीकी लेख-शैलीमें 'स' का ही प्रयोग 'श' के स्थानपर भी है। इस तरह 'सत' के तीनों अर्थ ग्रन्थमें प्रयुक्त हुए हैं—'सात, सौ, सत्य। जैसे कि—'सतसई' (=सप्तशती), *'जौ सत संकर करै सहाई'*, *'सत हरिभजन……।'*

एक महाशय लिखते हैं कि—*'सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै'*, इस पदमें श्रीग्रन्थकारने विशेष प्रेमी उपासकोंको दम्पतिके दिव्य स्वरूप-द्योतक ध्यानकी शतपञ्च चौपाईरूप गुह्यतम उपाय-विशेषका उपदेश दिया है। अर्थात् *'पाई न गति'* से यहाँतक दोनों छन्दोंमें नाम-लीला-रूपादि तीनोंका क्रमशः वर्णन किया है।', 'शतपञ्च चौपाईके नानार्थ तथा भेदपूर्ण अनेक संग्रह हो चुके हैं; किंतु यथार्थमें गोस्वामीजीकी मूल मुखोक्तिपर ठीक विचार कर लेनेपर एक अनूतम सिद्धान्त स्वतः ही हो जाता है। यह सिद्धान्त प्रमाण

तथा युक्तियोंसे भरपूर है, अचल है, अकाट्य है, शंका-समाधानसे रहित है।'……'वह है शतपञ्च चौपाईका निर्णय'। अस्तु, 'शतपञ्च चौपाईके विशेषण कितने हैं'? शतपञ्चका पूर्णांक विशेषण 'मनोहर' प्रथम विशेषण है। ज्ञातृत्वज्ञेय धर्मविशिष्ट *'जानि'* शब्द द्वितीय विशेषण है। कर्तृ अधिष्ठानार्थ पूर्ण *'जो नर उर धरै'* यह तृतीय विशेषण है। एवं फलश्रुति प्रधानार्थ पूर्ण *'दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुपति हरै'* यह चतुर्थ विशेषण है। इन चार विशेषणोंपर गम्भीर गवेषणा कर लेनेसे यथार्थ होने योग्य शतपंच चौपाइयाँ स्पष्ट व्यक्त हो जायँगी।

'शतपञ्च शब्दमें '**अङ्कानां वामतो गतिः**' लगा देनेसे पञ्च ५ तथा शत १०० सौ अर्थात् ५१०० चौपाइयाँ होंगी किंतु यह हो नहीं सकता क्योंकि 'कवितावली रामायण' के बालकाण्डमें श्रीगोस्वामीजीने लिखा है कि *'तुलसी तेहि अवसर लावणतादृश चारि नौ तीन इक्कीस सबै।'* यहाँपर यदि **अङ्कानां वामतोऽगतिः** लगा दी जाय तो अर्थका अनर्थ ही हो जायगा। इसी प्रकार 'शतपञ्च' शब्दमें भी वामाङ्कगति लगानेसे अनर्थ होगा। श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थमें वामाङ्कगति लगानेका अवकाश ही नहीं है। यदि कहो कि शतपञ्चसे ५०० चौपाइयाँ ही क्यों न ली जायँ तो यह कथन भी असंगत है क्योंकि शास्त्रोंमें संख्या गणनाकी प्रथा ऐसी है ही नहीं, यदि पाँच सौ कहना होगा तो शतपञ्च न कहकर पञ्चशत ही कहेंगे, जैसे अष्टोत्तर-शत……इत्यादि क्रम शास्त्रविहित है। अतः शतपञ्चसे १०५ ही चौपाइयोंका ग्रहण होना निर्भ्रान्त निश्चित है।……'

'अब यह प्रश्न उठता है कि ये १०५ चौपाइयाँ किस विषयकी होनी चाहिये? इस विषयमें विशेष्य-विशेषणपर ध्यान देनेसे पता लगता है। विशेषणके अर्थानुकूल विशेष्य होना ही शास्त्रनिर्णय है। विशेषण *'मनोहर'* है, अतः मनहरण करनेवाली प्राणधन जीवन प्यारेकी रूपसुधामाधुरीमय छबिछटाको सहजहीमें दर्शा देनेवाली सुन्दर मनोहर शतपञ्च चौपाइयाँ होनी चाहिये। और यह *'मनोहर'* शब्द शतपञ्च चौपाइयोंके कई स्थानोंमें व्यापक भी है, यथा—*'सहज मनोहर मूरति दोऊ', 'परम मनोहर चरित अपारा' 'नाभि मनोहर लेत जनु'*……इत्यादि।'……' *सत पंच चौपाई मनोहर जानि* ' अर्थात् मनमोहनी प्यारी छबिको शीघ्र ही हृदयमें प्रकट कर देनेवाली *'मनोहर'* १०५ चौपाइयाँ श्रीगुरु-उपदेशद्वारा, सम्यक् ज्ञानद्वारा लक्ष कर लेवे। जो नर *'उर धरै'* अर्थात् जो नर जान जाय तो उसको कण्ठ कर ले।

गौड़जी—कुछ लोग *'सत पंच'* का अर्थ 'सच्चे' या 'सात्त्विक' पंच करते हैं। भाव यह है कि इस ग्रन्थकी मनोहर चौपाइयाँ सात्त्विक या सच्चे पञ्चका काम देती हैं। सच्चा फैसला करती हैं और दारुण 'पञ्च पर्वा' अविद्याके बन्धनमें फँसे जीवको रिहाईका हुक्म देती हैं।'—यह भाव बड़ा अच्छा है परंतु खेद यह है कि पञ्चका रूपक चौपाइयोंके साथ सुसङ्गत नहीं बैठता। एक तो यहाँ पञ्चायतका कोई प्रसङ्ग नहीं है। दूसरे चौपाई शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'पञ्च' शब्द पुँल्लिङ्ग है। गोस्वामीजी-जैसे उद्भट विद्वान् और चतुर कलाकार कवि स्त्रीलिङ्ग उपमेयके लिये पुँल्लिङ्ग उपमान रख नहीं सकते और सो भी इतने बड़े महाकाव्यकी रचना करके जिसमें कि ऐसी भूल कहीं नहीं हुई है, यहाँ आकर करें और 'पतत प्रकर्ष' के दोषी हों। यह बात कोई टीकाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये 'सच्चे पंच' वाला अर्थ कदापि ग्राह्य नहीं है।

कुछ लोग 'सत पञ्च' का अर्थ करते हैं 'बारह', कुछ पैंतीस, कुछ सत्तावन, कुछ 'एक सौ पाँच' और कुछ पाँच सौ भी अर्थ करते हैं। भुशुण्डिजीने जो संक्षिप्त कथा कही है वह पैंतीस अर्द्धालियोंमें है। कहनेवाले समझते हैं कि गोस्वामीजीका इशारा इसी संक्षिप्त कथाकी ओर है। परंतु इस विचारमें दोष यह है कि वह अंश इस छंदसे बहुत दूर पड़ गया है। यदि उसका माहात्म्य कहना था तो वहीं कह देते। यहाँ उसका कोई प्रसङ्ग नहीं है। इसलिये पैंतीस अर्थ करना ठीक नहीं है। 'सत्तावन, एक सौ पाँच, पाँच सौ और बारह' अर्थ करनेवाले कुछ चुनी हुई चौपाइयाँ बतलाकर यह कहते हैं कि इनको हृदयमें धारण करनेपर मुक्ति होती है। परंतु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि गोस्वामीजीके रामचरितसम्बन्धमें यह कभी नहीं कह सकते कि इतनी ही कथा मनोहर है और शेष मनोहर नहीं है।

कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि मानसकारका यह भाव है कि कोई भी पाँच-सात चौपाइयाँ मनोहर समझकर हृदयमें धर ले। अर्थात् कण्ठ कर ले और उसपर मनन करता रहे, विचार करता रहे और तदनुसार

आचरण करे तो अविद्याजनित विकारोंसे मुक्त हो जायगा। यह अर्थ समीचीन है परंतु पाँच हजार चौपाइयोंमें पाँच-सात चौपाइयाँ कोई खास ऐसी जरूर हो सकती हैं जिनका हृदयमें इस प्रकार धारण कर लेना मुक्तिदायक हो सकता है, परंतु इसमें भी चुननेकी बात आ गयी। ग्रन्थकारका यदि यह अभिप्राय होता तो वह अवश्य ऐसे स्थलोंका निर्देश कर देता। इसलिये यह अर्थ भी ग्राह्य नहीं है।

नोट—उपर्युक्त सब लेख प्रथम संस्करणमें दिये गये थे। इधर जो और टीकाकारों आदिके लेख हैं वे अब उद्धृत किये जाते हैं—

वि० त्रि०—अन्तिम एक सौ पाँच चौपाइयोंको धारण करनेकी पृथक् फलश्रुति है। सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेमें जो असमर्थ हैं उनके लिये इसका विधान है। चौपाइयाँ भी मनोहर हैं, धारण करनेमें कोई असुविधा भी नहीं है। बात इतनी ही है कि तोतेकी तरह धारण न करें, जानकर (समझकर) धारण करनेसे ही कथित फल होगा।—वे १०५ चौपाइयाँ '*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥*' (११५। १-२) से प्रारम्भ होकर '*जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहि कबि श्रुति संत पुराना॥ ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहि नहिं पाई॥*' (१३०। ७-८) तक हैं।

श्रीबैजनाथजीने श्रीकरुणासिंधुजीके दिये हुए भावको विस्तारसे यों लिखा है—'......जो सदा सत्य ही कहते हैं वे सत्पञ्च हैं। सो इस ग्रन्थमें मनोहर सुन्दर चौपाईमें सत्पंच वर्णन किये गये हैं। यथा—'*सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिब रामपद पंकज नेहा॥*' यहाँ मन और जीवमें विवाद है। मन संसारको सच्चा कहता है और जीव ईश्वरको। दोनोंमें पञ्चायत बदी गयी। मनने लोककर्ता (प्रवृत्तिमार्गके) शिव और ब्रह्माको पञ्च किया और जीवने संसारको वृथा करनेवाले (निवृत्तिमार्गके) शुक-सनकादिको अपना पञ्च वरण किया। दोनोंके सम्मतसे पञ्चोंने नारदको सरपञ्च बनाया। पाँचोंने मिलकर यह निर्णय दिया कि यद्यपि संसार असत्य है तो भी उत्पन्न तो ईश्वरकी ही इच्छासे हुआ है, अतः संसारमें बना रहे और परलोक साध ले। सर्वसम्मतिसे यह निश्चित करनेपर उपायपर विचार किया तो यह सिद्धान्त किया कि संसारमें परलोक साधनका एकमात्र यही उपाय है कि '*करिय रामपद पंकज नेहा।*' इसीसे ये पाँचों पञ्च सदा हरि-नाम-यशादिका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं। इत्यादि सत्पञ्चोंका मत समझकर '*जो नर उर धरे*' अर्थात् श्रीरामस्नेह होनेके लिये श्रीरामयश श्रवण-कीर्तन करेंगे। पुनः, ग्रन्थकी चौपाइयाँ ऊपरसे मनोहर हैं। अर्थात् इनके श्रवण-कीर्तन करनेमें ऐसा लालित्य है कि वह मनको हर लेता है। और अन्तर भावसे 'सतपञ्च' हैं अर्थात् वेद, लोक और साधुमत सम्मत लिये हुए जिसकी जैसी मर्यादा चाहिये उसको वैसा ही कहती हैं, किसीका पक्ष नहीं खींचती हैं। भाव कि यद्यपि मैं अनन्य रामोपासक हूँ, तथापि मैंने सूर्य, शक्ति, शिव, गणेश आदि देवताओंका भी प्रसंग जहाँ आया है वहाँ उन-उनका यथार्थ माहात्म्य वर्णन किया है। इसी तरह ग्रन्थभरमें सब यथार्थ ही कहा है। अतएव इसकी चौपाई 'सतपञ्च' है, यह जानकर अर्थात् इसको सद्ग्रन्थ मानकर; '*जो नर*' अर्थात् शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि किसी भी मतका कोई भी पुरुष; '*उर धरे*' अर्थात् श्रवण-कीर्तनद्वारा हृदयमें धारण करे—उसके विषय-विकार सब श्रीरघुनाथजी हर लेते हैं; उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

सि० ति०—इस चौपाईके अर्थ लोगोंने बहुत प्रकारसे किये हैं, कोई सात-पाँचसे अल्पार्थ लेते हैं, पर उस अर्थमें '*जानि*' व्यर्थ हो जाता है।...५, १२, ३५, ५७, १०५, ५०० के चुननेसे शेषका अनादर होता है। अतः वैसा अर्थ करना अयोग्य है।

ऊपर '*रघुबंसभूषन चरित यह*......' इस छन्दके पूर्वार्धमें सम्पूर्ण चरितका फल समष्टिमें कह दिया गया। यहाँ इस '*सतपंच चौपाईं*' से ग्रन्थके अवान्तरकी एक खास बात कहते हैं; वह है—ग्रन्थका मुख्य तात्पर्य जिसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, इसीसे '*जानि*' कहा गया है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः तात्पर्य-निर्णयके साधन हैं।

उपक्रम—ग्रन्थकर्त्ता जिस उद्देश्यसे ग्रन्थ लिखता है, उसे आरम्भ करते हुए प्रकट करता है और उस उद्देश्यकी पूर्त्तिपर ग्रन्थको समाप्त करता है। श्रीरामचरितमानसका प्रारम्भ (उपक्रम) *'जनकसुता जग जननि जानकी।'* (१। १८। ७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहींसे है। अत: उपक्रमकी चौपाई इससे पूर्व रखी गयी है; यथा—*'सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥'* इसके पूर्व वन्दना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रमसे भिन्न रखी गयी है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजीकी वन्दना हो गयी, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वन्दनाके पीछे—*'बंदउँ प्रथम भरतके चरना'* से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदादितक नित्य पार्षदोंकी वन्दना हुई। साथ ही *'रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ जे बिनु काम रामके चेरे।'* से जो मुक्त होकर *'बिनु काम'* अर्थात् निष्काम भावसे नित्य पार्षदोंके साथ कैङ्कर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वन्दना की, नहीं तो खग-मृग आदिके प्राकृत रूपोंमें *'पद सरोज'* पद असंगत है। यहींपर वन्दना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजीकी वन्दनाकी आवश्यकता हो सकती थी, पर बीचमें *'सुक सनकादि'* का वरण किया गया है। इसमें *'भगत'* शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे शुक-सनकादि भक्तमें और हे भक्त नारद मुनि और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञानमें विशारद हैं, मैं आप सबसे पृथिवीपर सिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो, अर्थात् इस अपने जनके यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थमें विराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्तिपरक है। अत: प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी, तब पञ्चायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष-(मुमुक्षु जीव पक्ष-) के दो सत्पञ्च शुक-सनकादिका वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षीके मेली नहीं हैं।""और तीसरे सत्यपञ्च श्रीनारदजी हैं, इन्हें सरपञ्चरूपमें वरण किया, क्योंकि इन्हें मुनि विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभयपक्षके मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदिके यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधरके तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्षके ज्ञाता भी हैं, यथा—*'अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥'* तथा व्यास-वाल्मीकिके भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्षके पञ्चों और सरपञ्चको भी *'भगत'* विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्तिपरक ही विषय लिखूँगा। पुन: विज्ञान-विशारद मुनियोंको सदस्यरूपमें बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञानयुक्त ही हो। अत: आप विज्ञानपरक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनोंसे भक्तिपरक सहायता चाहते हैं कि जिससे पञ्चायतमें मेरी हार नहीं हो! इस तरह उपक्रममें मुख्य तात्पर्य भक्तिकी सिद्धिका है, इतना प्रबन्ध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—*'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* (१२१। ११) पर श्रीगरुड़जीके सातों प्रश्नोंके उत्तर पूरे हो गये। अन्तमें भक्तिका ही सिद्धान्त किया गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहींपर पञ्चायत ठन पड़ी; यथा—*'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥'* यही सत्पञ्चोंकी चौपाई है। यही उपसंहारकी चौपाई है। उपक्रमकी चौपाईकी पहली अर्धाली *'सुक सनकादि—'* में जो-जो शब्द थे प्राय: वे ही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम *'सिव अज'* ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानसके प्रत्येक प्रसंगमें उपक्रम, उपसंहारके शब्दोंका मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पञ्चोंके नाम आये हैं। इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं, जो (शिव-अजके) नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये मायाकी ओरसे प्रवृत्तिपक्षके सत्पञ्च हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसीकी ओरसे चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धिके देवता हैं और जीवोंके कर्मानुसार सृष्टिके विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकारके देवता हैं और कालानुसार संहारकर्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलयरूप कालके नियन्ता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्ररूप हैं। बुद्धिकी

कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसीसे सृष्टिका विस्तार होता है। कालसे गुण-वैषम्य होता है; यथा—'**कालाद् गुणव्यतिकरः।**' (भा० २। ५। २२) और प्रारब्ध कर्मसे स्वभाव निष्पन्न होता है। अतः काल, कर्म, गुण, स्वभावके नियन्ता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारों प्रवृत्तिके अंग हैं; यथा—'*फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥*' और प्रवृत्तिके विकाररूप हिरण्यकशिपु और रावण आदिके वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत् पक्षके भी पूर्ण ज्ञाता हैं। अतः ये ही दो उस पक्षके सत्पञ्च हैं।

मायाके प्रवृत्ति पक्षमें पितावर्ग हैं और निवृत्तिपरक जीवके पक्षमें पुत्रवर्ग हैं। जैसे कि सनकादिके पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजीके पिता श्रीव्यासजी हैं तथा साथ ही ये श्रीशिवजीके अंश भी हैं; यथा—'**यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥**' (शुकदेवसंहिता); '**व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वरः।**' (ब्रह्मवैवर्त पू० अ० १०)। कर्मवश जीवोंका जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म मायाके पक्षमें है। अतः उधर पितापक्ष है। दिगम्बर और ज्ञानी श्रीशिवजीके प्रति वैसे ही दिगम्बर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजीके चारों मुखोंके प्रति उनके चारों पुत्र (सनकादि)। श्रीनारदजी ध्यान देते हुए विचारते जाते हैं और सदस्यरूप विज्ञान विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्तिपक्ष—मायाका व्यापार श्रीरामजीका खेल है; यथा—'*जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।*', '**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**' और यह अनादिकालसे है; यथा—'*बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।*' अतः यह भी किसी भाँति संतुष्ट रखी जाय।

निवृत्तिपक्ष—सच्चिदानन्दस्वरूप जीव ईश्वरका अंश है और अविनाशी है। 'अंश' का अर्थ है भाग, हिस्सा। जो जिसका भाग होता है, वह उसके लिये होता है। अतः जीव ईश्वरके लिये है अर्थात् उसीका दास है। यह निज स्थितिसे पृथक् होकर मायावश नाना दुःख पाता है। इसका दुःख छूटना परम आवश्यक है।

इस तरह उभयपक्षके वादका बीजरूप कहा गया। वाद बहुत विस्तारसे हुआ; तब नारदजीने विचारा कि गोस्वामीजीके तात्पर्यसे दोनों पक्षोंका अविरोध है; यथा—'*तब रह राम भगति उर छाई।*' यह इनका अन्तिम सिद्धान्तवाक्य है। इसीसे दोनों पक्षवाले निर्विकार रहते हैं; यथा—'*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*', '*सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥*' (वि० ८६) '*जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।*' फिर वाद क्यों? इसके अन्तर्भावको मैं समझा दूँ तो अवश्य ही उभय पक्ष संतुष्ट हो जायँगे। ऐसा विचारकर आपने निर्णय किया—'*करिय रामपद पंकज नेहा।*' इसका भाव समझकर उभय पक्ष संतुष्ट हो गये। (भाव दोहा १२२ चौ० १३ में देखिये।)

इन्द्रियग्रामके साथ माया प्रसन्न हो गयी क्योंकि इसमें उसे '*जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं*' की विपत्ति अब नहीं होगी। जीवपक्ष भी प्रसन्न हो गया, क्योंकि वह इस पञ्चाङ्ग कमलके ध्यानसे भवसागरकी विपत्तिसे दूर हो जायगा, यथा—'*पाथोदगात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव भय मोचनं॥*' (आ०। ३२ छन्द)

निदान, ग्रन्थकारने अपना भक्ति-सिद्धान्त सत्पञ्चों एवं सदस्योंके द्वारा भी निश्चित पाकर आगे नव असम्भव दृष्टान्तोंसे इसे ही पुष्ट किया है; यथा—'*श्रुति पुरान सदग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥*' से '*बारि मथे घृत होइ बरु—।*' (१२२) तक। बस, इसके आगे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन हो गया, अतः उपक्रम और उपसंहारसे इस रामचरितमानस ग्रन्थका तात्पर्य '*करिय रामपद पंकज नेहा*' जाना गया। शेष अभ्यास आदि पाँचोंसे भी दिखाते हैं।

अभ्यास—ग्रन्थभरमें भक्तिहीका सर्वोपरि महत्त्व बार-बार वर्णित है। यथा—'*रामभगति जहँ सुरसरि धारा*',—'*सोह न राग प्रेम बिनु ज्ञानू*' इत्यादि।

अपूर्वता—जिसके समान फल-प्राप्ति प्रकारान्तरसे न हो सके। यथा—'*सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जो सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥*' (११५। ३-४)

फल—अनेक प्रकारसे जिसे फलरूपमें कहा गया हो। '*जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल*

हरि भगति भवानी॥' (१२६। ७) ***'जप तप नियम जोग निज धर्मा'*** से ***'सब साधन कर फल यह सुंदर।'*** (४९। १—४) ***'सब कर फल हरि भगति सुहाई।'*** (१२०। १८) इत्यादि।

अर्थवाद—प्रशंसा-वचन। कवि अपने अभीष्टमतकी जहाँ-तहाँ प्रशंसा भी करता है और दृष्टान्तों एवं इतिहासोंसे भी उसे ही पुष्ट करता है।""इसी तरह एक लोमश-भुशुण्डि-शास्त्रार्थ भी है, जिसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अत्यन्त अधिक कही गयी है। तथा ***'सब सुख खानि भगति तैं माँगी।'*** (८५। ३) इत्यादि।

उपपत्ति—विपक्ष-मतका खण्डन करके स्वसिद्धान्तका मण्डन करना उपपत्ति है। भक्ति सेवक-सेव्य-भावमें होती है। रुक्ष ज्ञानमें **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'सोऽहमस्मि'** आदिके अनुसंधानसे ब्रह्मके समान होनेकी चेष्टा की जाती है। अत: वह भक्तिका विपक्षी है। भक्तिकी उपपत्ति ग्रन्थकारने प्रधानतया लोमश-भुशुण्डि-संवादसे की है। इसमें अनेक युक्तियोंसे सगुण-भक्तिका मण्डन और निर्गुण-मतरूप रुक्ष ज्ञानका खण्डन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त छहों लिङ्गोंसे इस ग्रन्थका मुख्य तात्पर्य ***'करिय रामपद पंकज नेहा'*** यह सिद्ध हुआ, जिसे सत्पञ्चोंने निर्णय किया है।

मूलके शब्दोंपर विचार—सत्पञ्च वे हैं जो यथार्थ निर्णय करें। ऐसा ही यथार्थ निर्णय उक्त सत्पञ्चोंने किया है। उन सबकी चौपाईका सिद्धान्तवाक्य ***'करिय रामपद पंकज नेहा'*** मनोहर है। क्योंकि उसके अर्थमें पाँचों प्राकृत विषयोंसे मनका हरा जाना कहा गया, पाँचों विषय ही भक्तिरूप हो गये। ***'जानि'***—उपक्रमादि लिङ्गोंसे वही चौपाई जानी भी गयी। ***'उर धरे'***—उरमें धारण करना प्रेम करना ही उसका भाव है।""'

यहाँ उक्त तात्पर्यरूपा भक्तिके द्वारा पञ्चपर्वाके विकाररूप भव-भयकी निवृत्ति दिखायी गयी।

'श्रीरघुबर हरे'—रघुवर श्रीरामजीने अपने पञ्च-अङ्ग-कमलोंकी 'श्री' अर्थात् शोभा एवं उनके गुणोंसे पाँचों विकारोंको हरण किया—यह भी लिखा गया। (पं० श्रीकान्तशरण)

नं० प०—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी श्रीमानस-ग्रन्थका माहात्म्य कह रहे हैं कि चौपाइयाँ मनोहर 'सतपञ्च' हैं, ऐसा जानकर जो नर उरमें धारण करेंगे उनमें दारुण अविद्यासे जो पञ्चजनित विकार उत्पन्न हैं उसको श्रीरामजी हरण करेंगे। 'चौपाई' कहनेसे सोरठा, दोहा, छन्द आदि सब आ गये, क्योंकि सोरठा आदिमें भी चार पद होते हैं, जो चार-चार चरणके होते हैं वे सब चतुष्पाद अर्थात् चौपाई कहे जाते हैं। 'सतपञ्च' का भाव यह है कि जो सत्पञ्च होते हैं वे सत्य वचन कहते हैं; इसी तरह इस ग्रन्थकी चौपाइयाँ सत्पञ्च हैं, उनका कथन सत्य है। 'सतपञ्च' का भाव समस्त ग्रन्थके लिये है न कि ५०० या १०५ आदि चौपाइयोंके लिये।""

जो कोई जिस विषयका भावुक हो, वह उस विषयको अच्छा भी कहे और ग्रहण भी करे। परंतु गोस्वामीजी स्वयं किसी विषयको उत्तम, मध्यम नहीं कहेंगे; क्योंकि उन्होंने सब विषयोंको अपने-अपने स्थलपर उत्तम ही समझकर रखा है। पुन:, ***'सत पंच चौपाई''धरे'*** ये वचन ग्रन्थकारके हैं और ग्रन्थकारने परिश्रमसे रामचरितमानस ग्रन्थको रचकर तैयार किया है, अत: वे १०५ ही चौपाईको मनोहर नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहनेसे शेष सब ग्रन्थ अमनोहर हो जाता है।

फिर, गोस्वामीजी ग्रन्थमें ऐसे संशयकी बात क्यों लिखेंगे कि १०५ (कुछ संख्यक) चौपाइयाँ मनोहर हैं और उनका पता न लिखें कि ग्रन्थमें कहाँ हैं। यदि कोई कहे कि हमने तो पता लिख दिया है तो जैसी १०५ चौपाई उसने लिखा है वैसी चौपाइयाँ ग्रन्थमें और मौजूद हैं तब वही १०५ चौपाई कैसे यथार्थ हुई। (स्मरण रहे कि ग्रन्थकारने समग्र ग्रन्थके लिये प्रारम्भमें ही ये वाक्य कहे हैं—***'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ करइ मनोहर मति अनुहारी।'*** (१। ३६। १-२) ***'बरषहिं रामसुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥'*** (१। ३६। ४) ***'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहिं पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥'*** (१। ३६)

प० प० प्र०—यद्यपि 'सतपंच' के अर्थके विषयमें बहुत मत-मतान्तर हैं तथापि किसीने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि ***'उर धरे'*** पद मानसमें किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यहाँ ***'जानि उर धरे'*** अर्थात् जानकर उरमें धरना कहा है। 'उर धरना' या उसका पर्याय पद मानसमें 'ध्यान करना', 'ध्यान धरना' अर्थमें ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ

है। यथा—*'उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू।', 'उर धरि उमा प्रानपति चरना।', 'पौढ़े धरि उर पद जलजाता।', 'मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई।', 'रामचरन पंकज उर धरहू।', 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई।', 'सोभासिंधु हृदय धरि।', 'संभुचरन उर राखि।', 'जे पद जनकसुता उर लाये।', 'जिन्ह पायन्हके पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।'*

सतपञ्च=७+५=१२। *'सतसई'* शब्द गोस्वामीजीने प्रयुक्त ही किया है जिसमें सत=सप्त। श्रीमानसमें केवल एक स्थान ऐसा है जहाँ ध्यान करने योग्य केवल बारह चौपाइयों-(द्विपदियों-) का समूह है और वह है बालकाण्ड दोहा १९९ की १२ चौपाइयाँ—*'काम कोटि छबिस्याम सरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥'* से लेकर *'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा।'* तक। ☞यह बालरूप रामका ही ध्यान है। ध्यानसे ही अनात्म-मल शीघ्र नष्ट होते हैं। अविद्यादि पञ्चक्लेशोंका विनाश *'रघुबर' 'हरै,* कहा है, *'रघुबीर'* नहीं। रघुवरकी 'वीरता' बालकाण्ड दोहा २०८ में दी गयी है। ५००, १०५, ५१०० आदिका ध्यान करना भी असम्भव-सा ही है। सात या पाँच चौपाइयोंमें श्रीरामजीका ध्यान कहीं वर्णित भी नहीं है। पण्डित हरिप्रसाद व्यास-(सूर्य महल्ला-) का भी यही मत है।

करु०—*'अविद्या पञ्चजनित विकार—'*।* पञ्च-अविद्या, यथा—**'तमोऽविवेको मोहस्य ह्यन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्य विज्ञेयो ग्रामभेदसुखेक्षणः॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषां प्राहुर्भूता महात्मनः॥'**

गौड़जी—छठी सृष्टि अविद्या मायाकी है। यह पञ्चवर्ग या पाँच गाँठोंवाली कहलाती है। पहली गाँठ है, तम, अन्धकार—अपनी असलियतपर परदा पड़ जाना। दूसरी है, मोह अर्थात् अपनी देहको अपना आपा समझ बैठना, अहं-बुद्धि। तीसरी है महामोह, अर्थात् विषय-भोगसे देहकी वासनाओंको तृप्त करनेकी इच्छा। तामिस्र चौथी गाँठ है। भोगेच्छाके प्रतिघातसे उपजे क्रोधादि विकारोंका नाम तामिस्र है। पाँचवीं गाँठ है अन्धतामिस्र जिसके भोगके साधन शरीरके छूटनेपर समझता है कि मैं मर गया। इस अविद्याका भी खनिजोंसे विकास होते-होते मनुष्योंतक उसका पूर्ण उदय होता है। खनिजोंमें तमकी पूर्णता और मोहका उदय है। उद्भिज्जमें तम और मोहकी पूर्णता है, महामोहका उदय है। (तिर्यक्) योनिमें तीनोंकी पूर्णता है और तामिस्रका उदय है। मनुष्यमें चारोंकी पूर्णता है और अन्धतामिस्रका उदय है। अविद्याकी सृष्टितक प्राकृतिक सृष्टियाँ हैं। इसी अविद्या मायासे जनित नैसर्गिक बुद्धि होती है। इसके आगेकी चार सृष्टियोंमें विद्या मायाका अनुभवजनित बुद्धिका विकास होता है जिससे उसे वैकृतिक सृष्टि कहते हैं। अविद्याकी यह पाँच गाँठें न पड़तीं तो सृष्टि आगे विकास न पाती। [गौड़जीके वैज्ञानिक सृष्टि और विकासवाद नामक लेखसे। विज्ञान भाग ३६, संख्या २]

नोट—यहाँतक दो छन्दोंमें तीन बातें कही हैं। प्रथम छन्दमें नामका महत्त्व कहा कि नामोच्चारणसे श्वपचादि जो अघरूप हैं वे भी पवित्र होते तथा सद्गति पाते हैं—*'पाई न केहि गति'* से *'कहि नाम बारक तेऽपि पावन होत।'* दूसरे छन्दके पूर्वार्द्धमें रघुनाथजीके इस रामचरितमानसमें कहे हुए समस्त चरितका माहात्म्य कहा कि जो इसे कहें, सुनें या गावेंगे उनके कलिमल बिना यत्न वा परिश्रम धुल जायेंगे और वे बिना परिश्रम श्रीरामधाममें जा प्राप्त होंगे और यहाँ उत्तरार्द्धमें पाँच-सात अर्थात् थोड़ी-बहुत भी किन्हीं चौपाइयोंको हृदयमें धारण करनेका फल कहते हैं कि *'दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे।'* दारुण पञ्चपर्वा-अविद्याके विकार रघुनाथजी हरण कर लेंगे।

इस तरह नाम और चरितका फल एक दिखाया। दोनों पापोंका नाश कर रामधामकी प्राप्ति करा देते हैं। इसके पश्चात् छन्द ३ में स्वयं रघुनाथजीके गुण, उनका निर्वाणप्रदत्व, कारणरहित-कृपालुत्व, अनाथोंपर

---

* १ करु०—भाव कि पञ्च प्रकारकी दारुण पञ्चपर्वा अविद्यासे उत्पन्न जो अनेक प्रकारके विकार हैं उनको दण्ड देकर ये शुद्ध कर देते हैं, यदि वह पञ्चायतमें आवे और उनका वचन सुने।

२ वीर—अर्थ यह है कि जो इन्हें सच्चा पञ्च जानकर हृदयमें धरेंगे उनके हृदयमें अविद्या मायाके (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि फसादी) पञ्चोंसे उत्पन्न हुए दोषको श्रीरघुनाथजी हर लेंगे।

पं०—अविद्याजनित दारुण जो कामादिक पञ्च विकार हैं उनको हरेंगे।

प्रेम—इत्यादि कहे। इस तरह गुण, रूप, नाम और चरित तीनोंका समान माहात्म्य कहा।

वि० त्रि०—'*दारुन अबिद्या—*' इति। भाव कि इन शतपञ्च चौपाइयोंको जानकर केवल धारण कर लेना साधकका काम है, उसकी पञ्चपर्वा अविद्याका हरण स्वयं रघुवर करेंगे। पूरे ग्रन्थका गान करनेका फल रामधामप्राप्ति और शतपञ्च चौपाई ग्रन्थको धारण करनेका फल अविद्याका नाश है; और अविद्या-निशाका नाश तथा रामप्रतापसूर्यका उदय दो वस्तुएँ नहीं हैं। निशा समाप्त ही नहीं होती जबतक सूर्योदय नहीं होता और जबतक निशा समाप्त न हो तबतक सूर्योदय भी नहीं होता, फलतः शतपञ्च चौपाईको हृदयमें धारण करनेसे अविद्या-निशा नष्ट होती है और रामप्रतापरूपी सूर्यका उदय होता है। रामधामकी प्राप्ति तो मरनेके बाद होगी और जीते ही रामप्रतापरूपी दिनेशका उदय होनेसे रामराज्यका सुख करतलगत हो जाता है।

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्वानप्रद सम आन को॥

अर्थ—सौन्दर्यनिधान, सुजान और दयासागर, जो अनाथोंपर प्रीति करते हैं—ऐसे (विशेषणयुक्त) एक श्रीरामचन्द्रजी ही हैं;* इनके समान, बिना किसी इच्छाके, बिना प्रयोजनके हित करनेवाला तथा निर्वाण (संसारबन्धनसे मोक्ष) देनेवाला दूसरा कौन है? कोई भी नहीं है।

नोट—१ यहाँ एक श्रीरामचन्द्रजीको ही सौन्दर्य, सुजानता, दयालुता, अनाथोंपर प्रेम, निष्काम हित, मोक्षप्रदत्वमें अप्रतिम अद्वितीय सिद्धान्त किया है। इनका-सा दूसरा नहीं।

२—'*सुंदर*'—श्रीरामजी सौन्दर्यनिधान हैं, यथा—'*बदन सकल सौंदर्य निधाना।*' (१। ३२७। ८) '*सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई॥*' (१। ३१६। ४) '*नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुदरताई॥*' (३। १९। ३-४) (ये खर-दूषणके वाक्य हैं। शत्रु और विषयी, निर्दयी राक्षसोंपर भी इस सुन्दरताका प्रभाव पड़ा, इससे हद है) '*रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै।*' (गी० १। ८२) श्रीविश्वामित्र महामुनि, ब्रह्मलीन श्रीजनकमहाराज, ग्राम-नर-नारी इत्यादिकी दशा जो श्रीरामजीको देखते ही हो गयी वह तो आप ग्रन्थमें देख ही आये हैं। ऐसा सौन्दर्य किसीका नहीं है यह पूर्व दिखाया जा चुका है।

☞स्मरण रहे कि '*सुंदर*' शब्द इस ग्रन्थमें प्रथम-प्रथम श्रीरामजीके ही लिये विशेषणरूपसे आया है। यथा—'*मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥*' (१। ३४) और यहाँ ग्रन्थके अन्तमें भी यह विशेषण उन्हींके लिये आया है—'*सुंदर सुजान—एक राम—*'।

३—सुजानोंमें अद्वितीय हैं। यथा—'*नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ॥*' (अ० २५४। ५) '*जानसिरोमनि कोसलराऊ।*' (१। २८। १०) '*देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै, सबकी गति जान॥*' (वि० १०७) [करु०—'**सुजान**'=सबके अन्तःकरणके भाव-कुभाव, प्रीति-वैरको जाननेवाले। यथा—'*सबके उर अंतर बसहु जानहु भाव कुभाउ।*' (२। २५७)]

४—कृपानिधानोंमें अद्वितीय कहकर जनाया कि ऐसा जीवोंपर करुणावान् कोई दूसरा नहीं है। जीवपर इतनी कृपा है कि उसके अपराधोंको अपने सिर ले लेते हैं, सोचते हैं कि इसमें सामर्थ्य कहाँ कि यह अपने पुरुषार्थसे हमको प्राप्त कर सके, हमारी इसपर यथार्थ कृपा नहीं हुई इसीसे यह भवमें पड़ा चक्कर खा रहा है। यह कृपा जीवके प्रभु-सम्मुख होनेपर तो हमारे आचार्योंने कही ही है। पर इससे भी बढ़कर यह है कि सम्मुख नहीं हुएको भी इसी गुणसे आपने भवपार कर दिया—

'*खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचहिं जोगी॥*

---

* पुनः, 'सो' पदसे जनाया कि यहाँ कथित जितने गुण हैं वे इनके समान अन्य प्रभुओंमें नहीं हैं। यथा—'ऐसी कौन प्रभुकी रीति। बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।' (वि० २१४) ऋषियोंको छोड़ शबरीके आश्रमपर गये। उसके फलोंके स्वादकी प्रशंसा घर, ससुराल आदि सर्वत्र की कि ऐसा स्वाद हमें कहीं न मिला।

उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयरु भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥' (लं० ४४। ३—५)

५—*'अनाथ पर कर प्रीति'।* सुग्रीव अनाथ था, कोई भी त्रैलोक्यमें उसकी रक्षा बालिसे न कर सका। श्रीरघुनाथजी चाहते तो बालिसे मित्रता कर लेते तो वह रावणको पकड़कर बाँधके ला देता और श्रीसीताजीके लिये इतना संग्राम न करना पड़ता, न क्लेश उठाना पड़ता, जैसा कि वाल्मीकीयमें उसने स्वयं कहा है। पर उन्होंने उस अनाथका साथ दिया और उसके लिये बालिकी गालियाँ भी सहीं।

☞पर यदि प्रभुके प्रेमकी अभिलाषा है तो सच्चे अनाथ होना चाहिये। *'अनाथ'* शब्दमें सर्व-साधन-शून्य, सर्वोपायशून्य, सर्व-पुरुषार्थहीन, सर्व-आशा-भरोसा-त्याग, एकमात्र श्रीरामजीकी ही आशा-भरोसा और उन्हींकी करुणा, कृपालुता और रक्षाका पूर्ण विश्वास तथा आत्म-निवेदन इत्यादि सब गुण होने चाहिये। जबतक मनुष्य दूसरे किसी भी मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, अपने पुरुषार्थ इत्यादिमें किसीकी भी किञ्चित् भी सहायताकी आशा रखता है तबतक वह अनाथ नहीं कहा जा सकता। केवल भगवान्‌के साथ ठगपनेसे काम नहीं चलेगा कि ठाकुरजीके सामने मुँहसे बेगार टाल दी। देखिये सुतीक्ष्णजीके विचार—*'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'*—बस यही भाव *'अनाथ'* का गृहीत है।

६—*'अकाम हित'*। अहल्याको स्वयं वहाँ जाकर, शिलाका वृत्तान्त पूछकर उसे तारा। यह कारणरहित कृपालुता है। यहाँ कविने स्वयं कहा है—*'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।'* (१। २११) *'ते तुम्ह राम अकाम पियारे'*—आ० ६ (६) देखो। पुनः *'अकाम हित'* से जनाया कि और सब कारण पाकर, स्वार्थवश हित करते हैं—*'इहै जानि चरनन चित लायो। नाहिंन नाथ अकारनको हित तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो। जननि जनक सुतदार बंधुजन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो। सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहिं हरिभजन सिखायो॥ सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहू न हरि करि कृपा जुड़ायो॥'* (वि० २४३) *'जे सुर सिद्ध मुनीस जोगविद बेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥'* (वि० २३६) *'को न सेवत देत संपति, लोकहूँ यह रीति। दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति॥'* (वि० २१६)

[करु०—**अकाम**=जो (प्राणी) किसी बातकी कामना नहीं रखते। वा, अकामरहित=निष्काम जन प्रिय है। निर्वाणप्रद, यथा—*'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥'* निर्वाण-पदसे सभी प्रकारकी मुक्तियाँ यहाँ अभिप्रेत हैं।]

७—*'निर्वानपद सम आन को।'* देखिये खर-दूषणादि शत्रुओंपर कृपा, कि सबकी दृष्टि राममय हो गयी और वे सब *'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।'* राह चलतेमें कितनोंको मुक्त कर दिया, अयोध्या पुरवासी सभी प्राणियों, जीव-जन्तुओंको अपने साथ परधामको ले गये। इत्यादि अपने रूप, नाम, चरित और धाम सभीके द्वारा निर्वाण सबको सुलभ कर दिया। आपके नामकी ब्रह्मतारकसंज्ञा है जो और किसीके नामको नहीं प्राप्त है। चरितका माहात्म्य कहा ही है कि निर्वाणप्रद है—*'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥'* (१२८) और धामका भी फल ऐसा ही कह चुके हैं—*'अवध तजे तन नहिं संसारा'* और *'कवनिहुँ जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥'* (९७। ६) रूपको अर्चाविग्रह आदिद्वारा सुलभ कर दिया; इनके सामने भावपूर्वक स्तुति, शरणागति इत्यादिका वही फल है जो साक्षात् त्रेतामें लोगोंको प्राप्त था।

☞इस प्रकारके विशेषणोंके क्रमके भाव बहुत बार आ चुके हैं।

पं०—दीन अर्थात् सर्वगुणहीन। *'अस बिचारि'* अर्थात् अपना यह विरद विचारकर। **भवभीर**=संसारभ्रम।

नोट—☞उपास्यमें जो-जो गुण चाहिये वे सब यहाँ *'सुंदर सुजान'* आदिसे संक्षेपमें कह दिये। बाहर प्रथम सौन्दर्यहीपर दृष्टि जाती है, शूर्पणखातक मोहित हो गयी। यदि कोई अधिक सुन्दर देख पड़ा तो

उसकी ओर आकर्षित हो जानेकी सम्भावना है, सो आपके समान कोई सुन्दर नहीं। आपको देख मनसहित समस्त इन्द्रियाँ आपमें ही डूब जाती हैं। सुजान हैं अतः *'जान जन जीकी'* कुछ कहना नहीं पड़ता। कृपानिधान हैं, अतः सदा अहैतुकी कृपा करते हैं और कृपा करते अघाते नहीं । सदा यही समझते हैं कि हम ही एकमात्र इसके दुःख दूर करनेको समर्थ हैं। *'अनाथ पर कर प्रीति जो'* से सौलभ्य गुण दिखाया। भाव कि जीव यह न शंका करे कि इतने बड़े होकर हमपर क्यों दृष्टि डालेंगे। अतः कहते हैं कि अनाथोंपर तो उनका जैसा प्रेम है ऐसा किसीका नहीं। वे अकाम प्रिय हैं—***'बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रेम।'*** (वि०)

सि० ति०—*'एक राम'*—भाव कि भक्तोंको रमानेमें भी आप अद्वितीय हैं। यथा—**'रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः'** (रा० ता० उ०) इन्हीं गुणोंको विचारते हुए तो दण्डकवनके ऋषियोंने कहा है—**'परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥'** (वाल्मी० ३। ६। २०) ताराने भी कहा है—**'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥'** (वाल्मी० ४। १५। १९-२०) ब्रह्माजीने भी कहा है—**'त्वं हि लोकगतिर्देव।'** (वाल्मी० ७। ११०। १०) —*'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।'* (वि० १०७) देखिये।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥ ३॥

अर्थ—जिनकी लवलेशमात्र कृपासे मन्दबुद्धि मुझ तुलसीदासने भी परम विश्राम पाया उन श्रीरामचन्द्रजीके समान प्रभु कहीं भी नहीं है॥ ३॥

नोट—१ (क) पूर्वार्धमें जो कहा उसका अब प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि उनके कृपा-लवलेशसे स्वयं मैंने परम विश्राम प्राप्त किया। (ख) यहाँपर *'कृपा लवलेस'* से किस कृपाकी ओर इशारा है? इस बातपर सब टीकाकार चुप हैं। दासकी समझमें यहाँ दो बारकी कृपा जो खास श्रीरघुनाथजीकी इनपर हुई उसीपर यहाँ लक्ष्य है। प्रथम कृपा तो श्रीचित्रकूटमें दर्शन। दूसरी कृपा विनयावलीपर सही। ***'तुलसी तो को कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेति चित करि सो॥'*** (वि० २६४) प्रथमकी कथा प्रसिद्ध ही है। जब इन्होंने हनुमान्जीका पैर पकड़कर हठ किया तब उन्होंने दर्शन करानेका एकरार किया। इस प्रसंगको श्रीवेणीमाधवदासकृत मूल गुसाईंचरितसे उद्धृत करता हूँ—

छं०—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिबर बिनय बहुबिधि भाषेऊ।
पद गहि न छाड़उँ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ॥
रघुबीरदरसन मोहि कराइय मुनि कहेउ गद्गद बचन।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चषन॥ ४॥
दो०—श्रीहनुमंत प्रसंग यह बिमल चरित बिस्तार।
लहेउ गोसाईं दरसरस बिदित सकल संसार॥ २२॥

चित चेति चले चित्रकूट चितय। मन माहिं मनोरथ को उपचय॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती। पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती॥
सुधि आवत रामस्वभाव जबै। तब धावत मारग आतुर ह्वै॥
यहि भाँति गोसाईं तहाँ पहुँचे। किय आसन रामसुघाटहि पै॥
इक बार प्रदच्छिन देन गये। तहँ देखत रूप अनूप भये॥

जुग राजकुमार सु अश्व चढ़े। मृगया बन खेलन जात कढ़े॥
छबि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनधारि न जानि सके॥
हनुमंत बतायउ भेद सबै। पछिताइ रहे ललचाइल ह्वै॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय॥

दो०—सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिस घाटु पर बिरही होतहि प्रात॥ २३॥

सो०—प्रगटेउ राम सुजान कहेउ लेहु बाबा मलय।
सुक बपु धरि हनुमान पढ़ेउ चेतावनि दोहरा॥ ७॥

दो०—चित्रकूट के घाट पै भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसै तिलक देत रघुबीर॥ २४॥

छं०—रघुबीर छबि निरखन लगे बिसरी सबै सुधि देह की।
को घिसै चंदन दृगन तैं बहि चली सरित सनेह की॥
प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चंदन लै लिये।
दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अंतरहित किये॥ ५॥

दो०—बिरह ब्यथा तलफत पड़े मगन ध्यान इक तार।
रैन जगाये पवनसुत दीन्हे दसा सुधार॥ २५॥

पुनः, विनयका अन्तिम पद स्पष्ट ही है। मूल गुसाईंचरितमें वेणीमाधवदासजी लिखते हैं कि जब अस्सीघाटपर मुनिने निवास किया तब कलिने एक रातको इनके पास आकर इन्हें डाँटा और धमकी दी कि यदि पोथी जलमें न डुबा दोगे तो मैं ताड़ना करूँगा, भस्म कर दूँगा। उस समय आपने हरि श्रीहनुमान्‌जीका ध्यान किया। हनुमान्‌जी प्रकट हुए और—

हनुमंत कहउ कलि ना मनिहै। मोहि बरजत बैर महा ठनिहै॥
लिषि कै बिनयावलि देहु मोही। तब दंड दियाउब तात ओही॥

दो०—बिदित राम बिनयावली मुनि तब निर्मित कीन्ह।
सुनि तेहि साषीजुत प्रभु मुनिहि अभय करि दीन्ह॥ ५१॥

साक्षीकी बात गोस्वामीजीने स्वयं विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें प्रकट कही है। यथा—*'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैंहूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है।'* (वि० २७९)

'अभय कर देना' यही परम विश्राम है।—**'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'** २—'एक' *'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।'* 'एक'=अद्वितीय। यहाँ 'राम' की प्रभुताके आगे अन्य सबकी प्रभुताका निषेध कर इनको परात्परतर-तत्त्व दृढ़ किया। जिस रावणने विष्णुभगवान्‌को भी छकाया, जिसने चक्रका अतिशय निरादर किया वह रावण भी आपके बाणोंसे मृत्युको प्राप्त हुआ।

☞सब निगमागम-पुराणादिका निचोड़ सिद्धान्त अन्तमें यहाँ कहा कि 'राम' ही प्रभु हैं अर्थात् उपास्य होनेकी योग्यता रखते हैं, दूसरा नहीं। दूसरा प्रभु है ही नहीं। *'नाहीं कहूँ'*, यथा—*'जौ पै दूसरो कोउ होइ। तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ काहि ममता दीन पर काको पतितपावन नाम।'*...... आपुसेकहुँ

सौंपिये मोहिं जौं पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात॥' (वि० २१७) *'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ हो तो। तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो॥—तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो॥'* (वि० १६१)

☞३-ग्रन्थके प्रारम्भमें जो **'स्वान्तःसुखाय'** इत्यादि कहा, वह इनको मिल भी गया, यह यहाँ स्पष्ट किया—*'पायो परम बिश्राम'।*

पं०—*'कृपा लवलेस'* का भाव कि बड़ी कृपा तो हनुमदादिपर हुई है और हम तो किञ्च (किञ्चित्हीसे) कृतार्थ हुए हैं।

दो०—मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥१३०॥

अर्थ—हे श्रीरघुवीर! मेरे समान कोई दीन नहीं है और न आपके समान कोई दीनोंका हित करनेवाला है। ऐसा विचारकर, हे रघुवंशमणि! आप मेरे कठिन भवसंकट-(जन्म-मरण-) का हरण कीजिये॥ १३०॥

नोट—१ (क) *'दीन हित'* यथा—*'ऐसे राम दीन हितकारी। अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥'* (वि० १६६) *'तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई। मो सम कुटिल मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि! न हरन कुटिलाई॥ हौं मन बचन करम पातकरत, तुम कृपालु पतितन गति दाई। हौं अनाथ प्रभु! तुम अनाथहित, चित मह सुरति कबहुँ नहिं जाई॥ हौं आरत आरतिनासक तुम कीरति निगम पुराननि गाई। हौं सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई॥ तुम सुखधाम राम श्रमभंजन, हौं अति दुषित त्रिबिधि श्रम पाई। यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥'* (वि० २४२)

वै०—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन—ये चार अनुबन्ध ग्रन्थमें होते हैं। इनमेंसे अपना सम्बन्ध इस दोहेमें कहते हैं—*'मो सम दीन न—'।* अर्थात् भवभयसे पीड़ित दीन होकर मैं आपकी शरण आया हूँ। [आप दीनोंका हित करनेवाले हैं। भवभीत दीनकी वही रक्षा कर सकता है जो स्वयं भवमें न पड़ा हो और भवमें पड़े हुओंको भवसे तार सकता हो। ब्रह्मादि देवता स्वयं भवमें पड़े हुए हैं, यथा—*'भव बारिधि मंदर परमं दर। बारय तारय संसृति दुस्तर।'* (६। ११५) (त्रिपुरारिकृतस्तुति) *'भवप्रबाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥'* (६। १०९) (देवस्तुति) *'भवतारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं॥—धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥ अब दीन दयाल दया करिये।'* (६। ११०। ब्रह्माकृत स्तुति) अतः *'न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर'* कहकर जनाया कि एकमात्र आप ही इससे मुक्त कर सकते हैं। दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं। आप 'रघुवीर' हैं, समस्त देवताओंकी रावणके अत्याचारसे आपने ही रक्षा की।] आप पञ्चवीरतासे परिपूर्ण हैं। दयावीरता दिखाइये। मेरा-आपका दीन-दीनबन्धुका सम्बन्ध है।

अब प्रश्न होता है कि सम्बन्ध तो अनेक हैं, जैसे कि 'अंश-अंशी', 'सेवक-स्वामी', 'शेष-शेषी', 'पुत्र-पिता' इत्यादि। तब केवल दीनदयालुत्वसे सम्बन्ध क्यों कहा? भाव यह है कि मुझसे सेवा आदि कुछ भी नहीं बन पड़ती, भवपार जानेके लिये केवल आपकी दयाका भरोसा है।

नोट—'रघुवीर, रघुवंशमणि' से सगुण ब्रह्म रामकी शरण जाना कहा। इनसे अतिरिक्त जो किसी दूसरेको ब्रह्म राम कहते हैं उसका निषेध किया। रघुवंशमणि और रघुवीर विशेषण देकर तब *'हरहु—'* कहनेका भाव कि रघुकुलके सभी राजा बड़े वीर, दानी, शरणपाल आदि हुए हैं और आप तो उन सबोंसे बढ़कर हैं, आप तो उस कुलमें शिरोमणि हुए हैं, आपके-से बाँकुरे विरद किसीके नहीं हैं। यथा—*'औरू कहँ ठौरू रघुबंसमनि! मेरे। पतितपावन प्रनतपाल असरन सरन बाँकुरे बिरुद बिरुदैत केहि केरे॥'* (वि० २१०) ☞*'रघुबंसमनि'* शब्द प्रथम-प्रथम उमा-शम्भु-संवादमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्नमें आया है—*'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।'* (१। ११०) श्रीरामचरितके प्रारम्भमें जो उपक्रमरूपसे आया है, उसी शब्दसे उपसंहार

कियाँ। इसी तरह *'रघुबीर'* शब्द प्रथम-प्रथम दीनहितकारिता, शरणागतवत्सलता, शीलनिधानताके सम्बन्धमें ग्रन्थके आरम्भमें दोहा २९ में आया है। यथा—*'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरए सयबार हिति की॥ जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥'* (१। २९। ५—८) सुग्रीव और विभीषण दोनों दीन थे। यथा—*'दीन जानि तेहि अभय करीजे।'* (४। ४। ३) *'कृत भूप बिभीषन दीन रहा।'* (६। ११०) रघुबीर शब्द यहाँ उपसंहारमें भी उन्हीं गुणोंका स्मरण करानेके लिये किया गया।

'बिषम भव भीर'—विषमका भाव कि किसी औरके छुड़ाये नहीं छूट सकती। **भीर**=संकट, दुःख, भय। *'हरहु भव भीर'* से जनाया कि मैं भवसंकटमें पड़ा हूँ, भयभीत होकर शरणमें आया हूँ, क्योंकि आपका विरद है कि *'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहहुँ ताहि प्रान की नाईं॥'*

दो०—कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि* रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०(ख)॥

अर्थ—जैसे कामीको स्त्री प्यारी लगती है और जैसे लोभीको दाम (रुपया-पैसा) प्रिय लगता है वैसे ही हे रघुकुलके स्वामी! हे राम! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगिये†॥ १३० (ख)॥

पां०—यहाँ सम्बोधनसे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थान्त-समय गोसाईंजीको रघुनाथजी नेत्रगोचर हुए वा अन्त समय प्रकट हो गये।

नोट—१ ☞ यहाँ *'कामी और स्त्री'* तथा *'लोभी और दाम'* दोकी समताके प्रेमकी चाह है और विनयावलीमें एक ही पदमें पाँचकी समताके प्रेमकी इच्छा प्रगट की गयी है, यथा—

'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को?
सुख जीवन ज्यों जीव को मनि ज्यों फनिको हित, ज्यों धन लोभ लीन को॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर! पावन प्रेम पीन को॥
मनसाको दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदासको भावतो बलि जाउँ दयानिधि! दीजै दान दीन को॥'(वि० २६९)

यहाँ दो ही उदाहरण दिये गये और विनयमें पाँच, इसमें क्या हेतु या भाव या भेद है यह पीछे विचार किया जायगा।

श्रीरघुनाथजीमें किस प्रकारका प्रेम वे चाहते हैं वह यहाँ दो उदाहरणोंसे वे स्पष्ट कर रहे हैं। (१) *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* यह पहली उपमा है। कामीको स्त्री कैसी प्रिय है यह पूर्णतया वही जान सकता है जो इस फंदेमें पड़ चुका है, दूसरा नहीं। गोस्वामीजी इस प्रेमका भलीभाँति आस्वादन कर चुके हैं, यह उनके 'मूलचरित' से स्पष्ट है, यह सब जानते हैं, अतः यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरे उदाहरण बिल्वमंगल सूरदासजी भी हैं, इनकी कथा भक्तमालमें है और प्रायः सब जानते हैं। गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि जैसी हमारी आसक्ति उस समय स्त्रीमें थी तथा जैसी सभी कामियोंकी प्रेमान्धदशा होती है वैसी ही मेरी आपमें हो, आपके लिये हो।—*'मन प्रान प्रिया पर वारि दिये। जस कौसिक मैनका देखि भये॥ दिन रात सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं। ललचाते रहैं॥……पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥'* इत्यादि।

नारदमोह-प्रकरणमें भी कामीकी दशाका किंचित् दर्शन होता है—*'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥'* इत्यादि।

* तिमि रघुबंस—ना० प्र०।

† 'उदाहरण अलङ्कार'।

सारांश यह कि जैसे कामी जब किसी नवयौवना नागरीपर आसक्त हो जाता है तब उसका रूप उसके आँखों और हृदयमें सहज ही बस जाता है, समा जाता है, छा जाता है—*'नजरोंमें बस रहा है दिलमें समा रहा है'* उसे ध्यान करनेकी आसन जमाकर मन एकाग्र करके उसमें लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती, वह स्वाभाविक उसीको देखा करता है, उसकी सुरति सदा उस प्राणप्रियामें लगी रहती है, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते यही उसका अष्टयाम है। पराधीन होकर वह यदि उससे दूर भी है तो चित्तसे तो वह उसके साथ ही है, केवल शरीरसे ही दूर है।

प्रियकी गली-कूचा, उसके गलीकी रज, उससे सम्बन्ध रखनेवाली एक-एक वस्तु जो उसके सामने पड़ती है वह उसे चूमता है, नेत्रोंसे लगाता है, कब दर्शन हो यही अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वह दर्शनके लिये छटपटाता है, वियोग उसे असह्य हो जाता है—केवल ध्यानसे तृप्त नहीं हो जाता। वियोगमें जैसी कुछ दीन-दशा हो जाती है उसका कुछ दर्शन प्रभुने कराया है—*'कामिन्ह कै दीनता देखाई।'*(३। ३९। २) उसे तन-बदनका होश नहीं रहता, वह बावला-सरीखा फिरता है।

वह उस नायिकापर सर्वस्व, प्राणतक निछावर कर देता है, उसके लिये माता-पिता, भाई-बन्धु सभीसे नाता तोड़ देता है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी इत्यादि सब भूल जाता है।

वह स्त्री उसे सौन्दर्य और सर्वगुणसम्पन्न ही देख पड़ती है, उसकी बेवफाईमें भी वह वफा देखता है, जुल्म (सताने) में कृपा, परीक्षा और अदा देखता है, उसके हाथसे, लातसे, मार खानेमें भी स्पर्शसे उसे फल ही होता है। इत्यादि-इत्यादि।

उसके गुण, उसके चरित, उसका नाम भी जो कोई सुनाता है वह भी प्रिय लगने लगता है, तब उसके प्रियत्वका कहना ही क्या?

इत्यादि दशाएँ कामीकी देखने-सुननेमें आती ही है।

श्रीमद्गोस्वामीजी *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* कहकर माँगते हैं कि—इसी प्रकार मेरी सुरति स्वाभाविक एकरस तैलधारावत् आपमें लगी रहे—*'उठत बैठत पड़े उताने। कहैं कबीर हम उसी ठिकाने॥'* आपको छोड़ मैं दूसरेको देखूँ ही नहीं, आपका चरित, आपका नाम सुनकर गद्गद हुआ करूँ, आपका ही गुण गाया करूँ, आपकी चर्चा जिह्वापर रहे दूसरी कुछ नहीं, आपके प्यारे मुझे प्यारे लगें, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, धन-धाम सब सम्बन्ध आपके लिये मैं तृणवत् त्यागकर आपका हो जाऊँ, आपके दर्शनकी अभिलाषा उत्तरोत्तर उत्कट बढ़ती जाय, वियोग असह्य हो जाय, आपके लिये व्याकुल छटपटाता पागल-सा फिरता रहूँ, संसारकी लज्जाका विचार न रह जाय। इत्यादि-इत्यादि।

'श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईसही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।' (वि० १०४)

२ *'कामिहि नारि पिआरि'* के बाद दूसरा उदाहरण *'लोभी और दाम'* का देते हैं। लोभीका प्रियत्व धनपर कैसा है, यह कविने स्वयं विनयावली इत्यादिमें भी कहा है—*'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छन छन प्रभुहिं सँभारहि।'*

वह बार-बार उसकी देख-रेख करता है, बारम्बार गिनता है कि कहीं कोई ले तो नहीं गया, कम तो नहीं हो गया, कितना और बढ़ा। *'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय'* कहावत प्रसिद्ध है, शरीर भी चाहे चला जाय पर धन कोई न लेने पावे, मर रहा है पर ध्यान धनपर है, ओषधिके लिये भी उसे खर्च करना गवारा नहीं समझता और तो और वह मरकर उसपर सर्प होकर बैठता है।

इसी तरह आप चाहते हैं कि मैं क्षण-क्षण आपको हृदयमें सँभालता रहूँ, चित्त आपमें ही लगा रहे, कहीं भी रहूँ, किसी व्यवहारमें रहूँ, शरीर भी मरणतुल्य कष्टमें हो फिर भी आप हृदयसे दूर न हों, आपको मरनेपर भी न भूलूँ, दूसरे जन्ममें फिर भी आपकी ही भक्तिमें आरूढ़ रहूँ।

पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥'(वि० १०५)

धनके उपार्जनमें दुःख, उसकी रक्षामें दुःख और उसके हानिमें महादुःख, अर्थात् तीनों अवस्थाओंमें लोभीको इससे कष्ट ही पहुँचता है तब भी वह लोभ नहीं छोड़ता। इसी तरह आपके प्रेमके कारण चाहे आद्यन्त जन्मभर कष्ट क्यों न उठाना पड़े तब भी प्रेम न छूटे। लोग निन्दा भी करें तो भी हर्ज नहीं।

नोट—२ अब यह प्रश्न हो सकता है कि एकहीमें लगभग सब प्रेमकी दशा आ जाती है, एक ही उदाहरण पर्याप्त था, दो क्यों दिये? इसका एक उत्तर तो यही है कि यह कविकी काव्य करते समयके उमंगपर निर्भर है। कभी वह एक ही उपमासे सन्तुष्ट हो जाता है और कभी दो-दो, तीन-तीनसे भी नहीं। यहाँ दोहीका प्रेम कहा, विनयवाले पदमें पाँचका। कहीं केवल चातकके ही उदाहरणसे बस कर दिया है। दूसरा उत्तर यह है कि हो सकता है कि कामी और नारी दोनों चेतन हैं, कामीको स्त्री प्रिय होती है पर ऐसा ही देखनेमें आता है कि कहीं-कहीं स्त्रीका भी स्नेह पुरुषपर भी वैसा ही होता है। और कम-से-कम यह तो अवश्य ही है कि कामी चाहता है कि मेरी प्राणप्रिया मेरे ऊपर वैसा ही प्रेम करे, दूसरेपर दृष्टि भी न डाले। अतः इस दृष्टान्तसे यह लालसा पायी जा सकती है कि आप मुझपर प्रेम रखें। इस सन्देहके निवारणार्थ वे दूसरा दृष्टान्त देते हैं—लोभी और दामका। दाम जड़ पदार्थ है, वह यह भी नहीं जान सकता कि अमुक मनुष्यका मुझपर प्रेम है, पर लोभी उसके लिये प्राणोंसे भी अधिक प्रेम करता है। इस प्रकार दूसरा दृष्टान्त देकर वे जनाते हैं कि मेरा आपपर एकाङ्गी अनन्य प्रेम हो, आप चाहे मेरी पर्वा करें या न करें, करें तो अच्छा ही है और न करें तब भी मेरा प्रेम बढ़ता ही जाय, कभी यह समझकर घटने न पावे कि प्रभु तो मेरी सुध भी नहीं लेते। और एक ही जन्म क्या, जन्म-पुनर्जन्ममें भी आपके ही साथ मेरा प्रेम दृढ़ रहे, आपको उसी प्रकार न छोड़ूँ जैसे मनुष्य सर्प होकर अपने पूर्व शरीरकी कमाईपर बैठता है।

पुनः, तीसरा हेतु यह है कि स्त्रीका यौवन उतर जानेपर, अपनी वृद्धावस्था होने इत्यादिपर कामीका प्रेम घटता जाता है, परंतु लोभीका प्रेम द्रव्यपर वृद्धावस्थामें और भी बढ़ जाता है। अतः पहले दृष्टान्तकी कमीकी पूर्त्ति दूसरेसे की। भाव कि ज्यों-ज्यों अवस्था गिरती जाय त्यों-त्यों प्रेम भी अधिक होता जाय, कम न हो।

श्रीबैजनाथजी दो विशेषण देनेका भाव यह कहते हैं कि 'यावत् मेरी देहबुद्धि रहे तावत् मैं श्रवण-कीर्तनादिमें लगा रहूँ और जब जीवबुद्धि आवे तब प्रेमसे आपके रूपमें मग्न रहूँ।'

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'दो उपमाएँ दो भावसे दी हैं। *'रघुनाथ'* सम्बोधन भगवान्‌के रूपके लिये है, उसकी उपमा *'कामिहि नारि पिआरि'* की दी। राम सम्बोधन नामके लिये है, उसकी उपमा *'लोभी दाम प्रिय'* की दी। कामीके हृदयमें स्त्रीके रूपका ध्यान रहता है वैसे ही मेरे मनमें आपके रूपका ध्यान होता रहे। लोभी कितना ही दाम कमावे उसको सन्तोष नहीं होता, वैसे हम आपके नामका कितना ही जप करें, परंतु हमें नाम-जपसे तृप्ति न हो। लोभीको एक-एक पैसा प्राणके समान वैसे ही आपका एक-एक नाम प्राणके समान होवे, हम एक नामका भी नुकसान सह न सकें, गोस्वामीजीने नाम और रूप दोनोंका प्रियत्व किस भावसे माँगा है कि नाम और रूप दोहीकी उपासना होती है। कोई नामके उपासक होते हैं कोई रूपके और एकके अन्तर्गत दोनों (उपासनाएँ) रहती हैं। एक मुख्यरूपसे, दूसरा गौणरूपमें।'

३ *'तिमि रघुनाथ निरंतर—राम'* इति। (क) रामपदमें अतिव्याप्ति यह है कि इससे निर्गुण और सगुण दोनोंका बोध होता है—'**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**' इति श्रुतिः। और वही सगुण होकर दशरथात्मज राम हैं। दूसरे, रामसे उनके महाविष्णुनारायण और विष्णु रूपान्तरोंका भी बोध हो सकता है। अतः इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ *'रघुनाथ राम'* कहा। अर्थात् मैं आपके दशरथात्मज रघुकुलस्वामिन्! इस सगुण रूपकी उपासना चाहता हूँ, उसीमें प्रेम चाहता हूँ, अन्यमें नहीं। *'रघुनाथ'* पद

देकर श्रीरामजीके द्विहस्त छोड़ चतु:, षट्, अष्टसे लेकर सहस्रादिहस्त-पर्यन्तवाले जितने स्वरूप हैं उनको पृथक् कर दिया। मिलान कीजिये—'*भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान*' (सुं० २३), '*राम राम रघुपति जपत—*'।*

तीसरा भाव यह है कि यहाँ वर माँग रहे हैं, अत: '*रघुनाथ*' विशेषण दिया क्योंकि रघुकुलमात्र उदार होता आया है और आप तो उस कुलके राजा उदारशिरोमणि हैं, अत: राजाधिराज रामचन्द्रजीसे वर माँग रहे हैं। आप यह वर देनेको समर्थ हैं, यह सूचित करनेके लिये '*रघुनाथ*' भी कहा।

(ख) '*निरंतर*' इति। कामीका प्रेम प्राय: युवामें रहता है और लोभीकी दशा बाल्यावस्थामें नहीं होती; क्योंकि इस अवस्थामें द्रव्यका बोध कम होता है। अत: आप '*निरंतर*' पद देकर जनाते हैं कि जन्मसे लेकर बाल्य, युवा, जरा, मरणासन्न इत्यादि किसी भी अवस्थामें मेरा प्रेम कम न हो। दूसरे सोनेके समय तथा अन्य कारणोंसे भी कामी और लोभीके प्रेममें अन्तर सम्भव है; अत: '*निरंतर*' पद दिया। तीसरे, '*निरंतर*' पदसे विनयके मीन-नीर, सर्प और मणि इत्यादिका भी उदाहरण लक्षित कर दिया, क्योंकि उनका प्रेम निरन्तर रहता है, वियोग होते ही वे तड़पकर प्राण दे देते है। विनयावलीके पदमें '*निरंतर*' पद नहीं है, वैसे ही यहाँ 'नीर-मीन' आदिवाली उपमाएँ नहीं हैं।

यहाँ 'नीर-मीन' 'मणि-सर्प' के प्रेमकी माँग न करके '*निरंतर*' ही विशेषणसे वैसा प्रेम सूचित तो कर दिया पर साथ ही यह भी जना दिया कि आपके वियोगमें तड़पना दर्शनके लिये परम लालायित होना चाहते हैं, मरण नहीं चाहते, प्रतिदिन आशा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय कि अब प्रभु मिलते हैं, दूसरे वियोग-शृङ्गारमें जो रस है वह संयोगमें नहीं,—गोपियोंका ऐसा ही प्रेम था।

☞ऊपर नोट १ में हमने जो कहा था कि विनयके पदका विचार पीछे करेंगे, वह यहाँ किया गया।

पं० श्रीकान्तशरणजी—ऊपर भवभीरसे रक्षाके लिये प्रार्थना की। वह भव भगवान्‌की प्राप्तिसे ही छूटता है। यथा—'**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**'(गीता ८। १६) और भगवान्‌की प्राप्ति उनके निरन्तर स्मरणरूपा भक्तिसे होती है; यथा—'**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥ तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥**' (गीता ८। ६-७) निरन्तर स्मरण बिना गाढ़ प्रेमके नहीं होता, इसलिये वैसे प्रेमकी याचना करते हैं।

मा० हं०—काण्डसमाप्ति। मालूम होता है कि इस काण्डसमाप्तिकी शैलीकी कल्पना गोसाईंजीने भागवतके '**भवे भवे यथा भक्ति: पादयोस्तव जायते। तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वन्नो यत: प्रभो॥**' इस श्लोकसे ली हो। परंतु उसमें 'उन्होंने' अपनी चतुरता और प्रेम खर्च करके जो सुधार किये हैं उनके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा जाय वह थोड़ा ही है। ग्रन्थ समाप्तिकी ऐसी शैली भागवतको छोड़कर हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिली। परबोधकशक्तिका मर्म स्वामीजीको सचमुचमें समझा था, ऐसा-ऐसा कहना पड़ता है।

करु—यहाँ श्रीगोसाईंजी जीव और परमेश्वरके चार अनुबन्ध कहते हैं। जब ये चार अनुबन्ध सद्‌गुरुसे

---

* कोई रामायणी ऐसा कहते हैं कि रघुनायक और राम दो सम्बोधन देकर जनाया कि आपका रूप हमें 'कामिहि नारि पियारि जिमि' ऐसा प्रिय लगे और आपका रामनाम 'लोभिहि जिमि दाम' ऐसा प्रिय लगे। आपका एक नामका नुकसान सहन न हो, गिनता रहूँ कम तो नहीं हो गया।—(प्रेमकी उच्च दशामें रूपमें मग्न हो जानेपर नाम उसीमें लय हो जाता है, नाम पृथक् रह ही नहीं जाता। प्रेमपागलको रट जप-ध्यानकी सुधि कहा) ? उत्तरार्धका अर्थ यह है कि हे रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी! आप मुझे वैसे ही प्रिय लगें। यह अर्थ नहीं है कि हे रघुनाथ! आपका रूप मुझे प्रिय लगे। हे राम! आपका रामनाम प्रिय लगे। दशरथात्मज राममें वैसा प्रेम चाहते हैं। रघुनाथ राममें प्रेम हो, इससे सूचित करते हैं कि आपके ही चरित, आपका रूप, आपका धाम और आपका रामनाम, आपका कैंकर्य इत्यादि सबमें प्रेम चाहते हैं। चरित और नामके सम्बन्धमें तो अपना मत विनय और गीतावलीमें दे ही चुके हैं कि जिनको ये दोनों रामजीसे भी अधिक प्रिय हैं वे धन्य हैं और धामकी उपासना आपके चरितसे स्पष्ट है कि यहाँके एक श्वपचको काशीमें कैसे प्रेमभावसे मिले, यही नहीं, किंतु अपने एक कृपापात्रको श्रीअवधमें आकर श्रीअवधके कुछ भागका दिव्य दर्शन कराया था।

'श्रुति रामकथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिको थल है'।

प्राप्त हों तब श्रीरामतत्त्वकी प्राप्ति होती है। वे ये हैं—१ अधिकारी, २ विषय, ३ सम्बन्ध और ४ प्रयोजन। इनके स्वरूप ये हैं—१ वैराग्य, विवेक और षट्सम्पत्तियुक्तको विशेष अधिकारी कहते हैं। वैराग्य, यथा—*'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'*। विवेक स्वधर्मग्रहण, परधर्मत्याग, रामसम्बन्धी पदार्थका ग्रहण, संसार वा अनात्म-सम्बन्धका त्याग, इसमें बुद्धि अचल रहे, यह विवेक है—*'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार'*, *'सगुन षीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी॥'* षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। (ज्ञानदीपकमें इसका वर्णन हो चुका है)। पुनः षट्सम्पत्ति षट्शरणागतिको कहते हैं (इनका उल्लेख विभीषणशरणागति तथा और भी स्थलोंमें आ चुका है)। विषय=वर्णनीय पदार्थ।

२—अधिकारी होनेपर तब विषयकी प्राप्ति है। श्रुति, स्मृति, पुराण, श्रीमद्रामायण समस्त ग्रन्थोंका विषय श्रीरामचन्द्र हैं; जब यह विषय अच्छी तरह जान ले तब सम्बन्धकी प्राप्ति हो। ३—जीव और परमेश्वरका सजातीय सम्बन्ध है। पुत्र-पिता, अंश-अंशी इत्यादि सम्बन्ध हैं—*'सर्बभाव भज—। ८७।'* में दे०। सब सम्बन्ध अनादि हैं। सद्गुरुसे इसे जान ले। ४—प्रयोजन—जीवका सच्चा प्रयोजन यह बताया है कि श्रीरामचन्द्रकी निष्काम भक्ति करे, यह भक्ति अन्तिम दोहेमें कही। ☞जो इन चारोंको जाने वह रामभक्ति पहिचाने।

१—अनुबन्ध अर्थात् सम्बन्ध—यथा *'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'*

२—विषय, यथा—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'*

३—प्रयोजन, यथा—*'निज गिरा पावन करन कारन रामजस तुलसी कह्यो'*

४—अधिकारी, यथा—*'सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते नरबर मानस अधिकारी'*

नोट—बालकाण्ड मं० श्लो० ६ के तिलकमें दिखाया गया है कि गोस्वामीजीका मङ्गलाचरण श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरण **'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'** इत्यादिसे बहुत मिलता-जुलता है, भागवतकारके मङ्गलाचरणके चारों चरणोंके भाव तो मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त ही कर दिये हैं और उससे अधिक एक बात और भी दी है जो भागवतकारने स्पष्टरूपसे अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त नहीं कर पायी। इसी प्रकार ग्रन्थकी समाप्ति भी श्रीमद्भागवतसे बहुत कुछ मिलती है। जैसा कि दोहेके अन्तमें दिये हुए मिलानसे स्पष्ट है।

भागवतके मङ्गलाचरणमें **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि'** अन्तिम शब्द हैं और ग्रन्थकी समाप्तिपरके दो श्लोकोंके पहले यह श्लोक है—

'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥' (भा० १२। १३। १९)

'नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे। य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥'

अन्तमें शुकदेवजीकी वन्दनापर समाप्ति है।

भागवतकारने जैसे मङ्गलाचरण **'सत्यं परं धीमहि'** से किया वैसे ही ग्रन्थका अन्त भी किया। और मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें जिस पक्षको वे सत्य समझते हैं उसे, जैसे ग्रन्थके प्रारम्भमें स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया है—**'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'**, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दोंमें उपसंहारमें ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंगभरमें व्यक्त कर रहे हैं। जिन शब्दोंको किसी प्रकार तोड़-मरोड़कर किसीके अर्थके लिये अनर्थ करना सम्भव नहीं है।

यहाँ 'राम', 'रघुनाथ', 'रघुबंसभूषन', 'रामपदाब्ज', 'रामधाम', 'रामनाम', 'रघुनाथ नाम' यही शब्द कविने अपने उपसंहारमें दिये हैं। यह न्याय है कि यदि उपक्रम आदिमें कोई बात संदिग्ध हो तो उसका निर्णय उपसंहारसे किया जाता है। यद्यपि संदेहकी बात तो कोई है ही नहीं, क्योंकि शिवजी स्पष्ट कह रहे हैं कि—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* तो भी अन्तमें तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता कि गोस्वामीजी किसको परात्पर परब्रह्म परं ध्येय, परं ज्ञेय, किसके नामको तथा मन्त्रको परं जाप्य और किस चरितको परं पाठ्य सिद्धान्त कहते हैं।

अन्तमें जैसे भागवतमें श्रीशुकदेवजीकी वन्दनापर समाप्ति है कि जिनके द्वारा संसारमें प्रचार हुआ वैसे ही यहाँ महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी—

'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्' इत्यादि

—पर समाप्ति करते हैं और विशेषता यह है कि अन्तमें भक्तों, वक्ताओं, श्रोताओं, मनन करनेवालोंको आशीर्वाद देते हुए सबका इससे कल्याण निश्चय कराते हुए ग्रन्थकी समाप्ति करते हैं, जो बात भागवतमें नहीं है।

'ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।'

गोस्वामीजीने ग्रन्थका उपक्रम और उपसंहार दोनों एक ही अक्षर 'व' से किया है। 'व' तन्त्रशास्त्रके मतानुसार अमृतबीज है, अतः मानसमें अमृतबीजका संपुट हुआ।

फलश्रुतिका भागवतकी फलश्रुतिसे मिलान

भा० १२। १२। ६१ देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः। मनकामना सिद्धि नर पावा।
यच्छन्ति कामान्गृणतः श्रृण्वतो यस्य कीर्तनात्॥ जो यह कथा कपट तजि गावा॥ (१२८)
भा० १२। १३। १८ तच्छृण्वन् पठविचारण परो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ १२। १३। ११—आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्। हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्॥*मानस—जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥*
भा० १२। १२। ६५ कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्त्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसंगैः॥
मानस—मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये। भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥
भा० १२। १३। १५ सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
यह रामचरितमानस सब श्रुतियोंका सारसिद्धान्त है। यथा—'*बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि॥*' बा० १०९।

'राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥'

भा० १२। १३। ९ तत्राष्टादशसाहस्त्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ *सतपंच चौपाई मनोहर*

☞भागवतमें प्रतिपाद्य देवसे कोई याचना नहीं है। मानसमें प्रतिपाद्य उपास्यदेवसे भवभयहरण और अविचल प्रेमकी प्रार्थना भी है।

भा० १२। १३। १२ 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥
भा० १२। १३। १८ श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥
रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
१२। १२। ५८, ६६-६७ य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः। (श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा)
मानस—सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे॥
श्रद्धावान्योऽनुश्रृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्। सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यैर्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि॥ सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥
उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय। जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभाय नमः सनातनाय॥ पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
१२। १३। २१ योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे। यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥　　श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।

१२। १२। ६८ **स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।**
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

श्लो०—**यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।**
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

अर्थ—पहले समर्थ श्रेष्ठ कवि श्रीशङ्करजीने जिस दुरूह मानस रामायणको श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें निरन्तर भक्ति प्राप्त होनेके लिये बनाया था, तुलसीदासने उसीको रामनाममें तत्पर पाकर अपने अन्तःकरणके अन्धकारको मिटानेके लिये उसी प्रकार भाषामें बनाया॥ १॥

करु०—दुर्गम अर्थात् किसीको सम्पूर्ण जाननेकी गम्य नहीं।

यहाँ इस रामचरितमानस ग्रन्थका उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे[1],	**यत्पूर्वं[1] प्रभुणा कृतं सुकविना**
स्वान्तःसुखाय[2] तुलसी रघुनाथगाथा[3],	**मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं[2] स्वान्तस्तमःशान्तये[3]**
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति[4],	**भाषाबद्धमिदं[4] चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।**

प० प० प्र०—उपसंहार '**यद् रामायणं श्रीशम्भुना कृतम्**' से बालकाण्ड मं० श्लो० ७ के '**रामायणे निगदितम्**' का अर्थ स्पष्ट किया है। अर्थात् शिवरामायण ही वहाँ विवक्षित है।

'**स्वान्तःसुखाय**' यह प्रयोजनका फल उपक्रममें कहा था। यहाँ '**स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धं चकार**' यह उपसंहार है। **पायो परम बिश्रामु**=स्वान्तःसुखप्राप्ति=स्वान्तस्तमः शान्ति।

श्रीपार्वतीजीने रामप्रेमप्राप्ति होनेसे विश्राम पाया। गरुड़जीने भी परम विश्राम पाया। विश्वमें सभी जीव सुखी हो गये। इस प्रकार बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में जो प्रयोजनका फल, स्वान्तःसुख उपक्रमित किया था, वह सभी लोगोंने अवधमें नारदजीने, वसिष्ठजीने, सनकादिकने पाया।

विवेक-विरागयुक्त वेदविहित आचार पालन करके ज्ञान-प्राप्तिके पश्चात् रामपद-प्रेमभक्ति-प्राप्तिसे ही परम विश्रामकी प्राप्ति हो सकती है—यह गोस्वामीजीका सिद्धान्त है।

सि० ति०—जैसे उलटे नामके जपसे श्रीवाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हुए, तब उन्होंने नामके शुद्धस्वरूपके अर्थ-वैभव जाननेकी इच्छासे श्रीनारदजीसे गुणोंके प्रश्न किये, यथा—'गुणवान्कः'। नामका विभव उसका अर्थ है, इसीसे नाम-जपके साथ उसके अर्थ-विचारकी विधि है। चरित नामका अर्थ है, अर्थ-प्रकाशके द्वारा श्रीरामजीके गुणोंको विस्तार करना नामके विभवका ही विस्तार है, यथा—'**न भिन्नो नाम नाभिन्नः**'। जब श्रीनारदजी उन्हें उत्तर देने लगे तब '**रामो नाम जनैः श्रुतः**' यह नाम कहकर तब उसके अर्थभूत गुणोंका कथन प्रारम्भ किया है। मूलरामायण वाल्मीकीयमें स्पष्ट है।

इसी तरह श्रीगोस्वामीजी भी नामके द्वारा कृतार्थ होकर उसी नामके विभव-विस्तार करनेवाले चरितके वर्णनकी ओर प्रवृत्त हुए कि जिससे चरितके पठन-पाठनसे नाममें प्रीति बढ़े, इन्होंने बार-बार शपथ करके कहा है कि मैं राम-नामसे ही कृतार्थ हुआ हूँ। नामके ही आराधनसे उसके अर्थभूत चरितका विशेष विकास होता है, यथा—'*जानहिं सिव रघुनाथ भरतको सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको राम नाम सों प्रेम नेम निबहा है॥*' (गी० २। ६४) इसीसे इनकी रचना लोकोत्तर हुई है।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥ २॥

इति श्रीरामचरित्रमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरलहरिभक्तिसम्पादनो नाम

सप्तमः सोपानः सम्पूर्णः।

अर्थ—यह श्रीरामचरितमानस पुण्यरूप (पवित्र), पापोंका हरण करनेवाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्तिका देनेवाला, माया, मोह और पापोंका नाशक, अत्यन्त निर्मल, श्रेष्ठ सुन्दर निर्मल प्रेमजलसे पूर्ण और मङ्गलकारी है। जो भक्तिपूर्वक इस श्रीमद्रामचरितमानससरोवरमें स्नान करते हैं वे मनुष्य संसाररूपी सूर्यकी प्रखर (तेज) किरणोंसे नहीं जलते हैं। अर्थात् परम शान्ति पाकर सदा प्रसन्न रहते हैं॥ २॥

इस तरह कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानसका हरिभक्ति-सम्पादन करनेवाला सातवाँ सोपान सम्पूर्ण हुआ।

नोट—'**पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं**—' इति। (क) पुण्य आदिके भाव पूर्व बालकाण्ड आदिमें आ चुके हैं। पुण्य=पवित्र, पावन। ☞यह शब्द उपक्रमरूपसे ग्रन्थके आरम्भमें संस्कृत मङ्गलाचरण श्लोक ४ में प्रथम-प्रथम श्रीरामगुणग्रामके विशेषणरूपमें आया है और यहाँ उपसंहारके श्लोकमें अन्तमें भी श्रीमद्रामचरितके ही विशेषणरूपमें आया है। वहाँ '**सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ**।' विशुद्धविज्ञानी कवीश्वर और कपीश्वरकी वन्दनामें आया है और यहाँ '**विज्ञानभक्तिप्रदम्**' के साथ आया है। इससे जनाया कि कवीश्वर वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी इस पुण्यचरितमें विहार करनेसे ही विशुद्ध विज्ञानी हुए। रामचरित पावन है, यथा—'**पावन गंग-तरंगमालसे**।'(१। ३२। १४) '**पापहरम्**', यथा—'***समन पाप संताप सोक के।***' (१। ३२। ५) शिवकर= कल्याणकर, यथा—'**मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी**।'(१। १०) '***जगमंगल गुन ग्राम रामके। दानि मुकुति धन धरम धामके॥***'(१। ३२। १)'***प्रिय पालक परलोक लोकके।***'(१। ३२। ५) '***मेटत कठिन कुअंक भालके॥***' (१। ३२। ५) इत्यादि सब भाव 'शिवकर' में आ गये। विज्ञानभक्तिप्रद, यथा—'***यह रावनारि चरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादि हर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥***' (६। १२० छन्द २) भक्तिप्रदके प्रमाण तो ग्रन्थमें ही स्वयं श्रीपार्वतीजी और गरुड़जी हैं। यथा—'***मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥***' (१२९) '***राम चरन उपजेउ नव नेहा।***' (१२९। ८) '***रामचरन नूतन रति भई। मायाजनित बिपति सब गई॥ मोह जलधि बोहित तुम्ह भए।***' (१२५। २-३) '**माया मोहमलापहम्**' का उदाहरण भी उपर्युक्त उदाहरणमें आ गया। '**प्रेमाम्बुपूरम्**', यथा—'***रघुपति भगति प्रेम परमिति सी।***' (१। ३१। १४) मलका नाश जलसे होता है, अतएव '**मलापहम्**' कहकर '**प्रेमाम्बुपूरम्**' कहा। श्रीरामचरितसे निर्मल प्रेम होता है, जिससे माया-मोह-मल धुलकर नहीं रह जाता। मिलान कीजिये—'***मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक अधिकाई॥ नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे। हृदय मलिन बासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए। सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥ तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचरन अनुराग नीर बिनु अति मल नास न पावै॥***' (वि० ८२) सुविमलका भाव कि सांसारिक प्रेम निर्मल नहीं होता। किसी कामनासे जो प्रेम होता है वह भी निर्मल नहीं होता है। परमार्थकी कामनावाला प्रेम निर्मल है और निष्काम प्रेम जिसमें व्यभिचारकी गन्ध नहीं होती वह प्रेम 'सुविमल' है, 'विशुद्ध' है। ऐसे अत्यन्त निर्मल प्रेमका देनेवाला यह चरित है।

२—***संसारपतंग***—', इति। संसार क्या है यह विनयके निम्नपदसे स्पष्ट हो जायगा—

'**मैं तोहि अब जान्यो संसार। बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार॥**
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरै सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार। महामोह मृगजल सरिता महँ बोर्‌यो हौ बारंबार॥
सुनु खलु छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार। सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार॥
तासौं करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार। सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं ब्यवहार॥
निज हित सुनु शठ हठ न करहिं जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासन्ह तजि भजहि जहाँ मदमार॥ १८८॥'

संसार, भव, संसृति पर्याय शब्द हैं। जन्म-मरण, आवागमन आदि। संसार शब्द इस अर्थमें कई

बार आया है। यथा—'*होइहहु मुकुत न पुनि संसारा।*' (१। १३९। ७) '*संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकी-जीवनम्।*' (४ मं० श्लो० २) '*महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।*' (६। ७९) '*मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥*' (६। १०५ छन्द) '*पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥*' (७। १३ छन्द)

पतंग=सूर्य। यथा—'*कौतुक देखि पतंग भुलाना।*' (१। १९५। ८) '*कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।*' (४। १५) '*जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।*' (१। ११६। ४) इत्यादि। संसारको सूर्यकी भयंकर मध्याह्नकालकी किरणसमूह कहा। सूर्यकी भयंकर किरणोंकी तापसे मनुष्य व्याकुल हो जाते हैं। वैसे ही जीव बारम्बार जन्म-मरण आदिसे संतप्त होते हैं, इसीसे देवता, ऋषि आदि सभी उससे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। यथा—'*भव बारिधि मंदर परमंदर। बारय तारय संसृति दुस्तर॥*' (६। ११४) (श्रीशिवजी), '*भव प्रबाह सतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥*' (६। १०९। १२) '*भवखेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे।*' (७। १३ छन्द) (वेदस्तुति), '*भवताप भयाकुल पाहि जनं।*' (७। १४ छन्द १), '*देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भव दाप नसावनि॥*' (७। ३५। १) (श्रीसनकादिकजी)। इत्यादि।—इस भव घोर घामसे झुलस न जानेका उपाय बताते हैं कि इसमें भक्तिपूर्वक डूबे रहें।

'**भक्त्यावगाहन्ति ये**' यह शर्त है, नियम है। अतः भक्तिपूर्वक अवगाहन क्या है, यह भी जान लेना चाहिये। बालकाण्डमें आशीर्वादरूप फल ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—'*जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥*' (१। १५। १०-११), '*राम चरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥*' (१। ३५। ७-८), '*कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥*' (१। ४१। ६), '*सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥*' (१। ४३। ६) भक्तिसे श्रद्धा-विश्वासपूर्वक तथा प्रेमसे आदरपूर्वक मन, चित्त और बुद्धिको लगाकर स्नान करना, डुबकी लगाना जनाया। जब ऐसा होगा तो स्नान प्रसन्न मनसे होगा, उसके कहने-सुननेमें प्रेम-पुलकावली होगी। अवगाहन स्नान और डुबकी लगाने एवं डूबे रहनेको कहते हैं। यथा—'*जे सर सरित राम अवगाहहिं।*' (२। ११३। ६), '*रोवहिं सोक सिंधु अवगाहहिं।*' (२। २७६। ८), '**नो मानवाः**' इति। **नो**=नहीं। यथा—'*पतन्ति नो भवार्णवे वितर्क बीचि संकुले।*' (३। ४ छन्द) ग्रन्थकारने कथाके प्रारम्भमें कथाका फल बाल० ३१ (४) से लेकर दोहा ३२ तक तथा मानस-सर-सरयूरूपकमें कहा, वैसे ही ग्रन्थके अन्तमें यहाँ फलश्रुति कहते हुए ग्रन्थकी समाप्ति की है।

ग्रन्थका प्रारम्भ 'व' वर्णसे किया गया था—'**वर्णानामर्थसंघानाम्**' (बाल० मं० श्लो० १) उसी अक्षरपर ग्रन्थकी समाप्ति भी की। '*मानवाः*' अन्तिम शब्द है, जिसका अन्तिम अक्षर 'व' है। इस अक्षरसे ग्रन्थको सम्पुटित करनेके भाव बा० मं० श्लो० १ में दिये गये हैं। तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। वाणी और विनायकका (जिनका सर्वप्रथम मङ्गल किया है) बीज 'व' कार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है, वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतः 'व' बीजका सम्पुट देकर सूचित किया कि इसके वक्ता-श्रोता अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति तथा मनोरथ-सिद्धि पावेंगे।

करु०—'*संसार पतंग घोर किरण*' अर्थात् '*अहं मम मान बड़ाई।*' इत्यादि।

पं०—'**दह्यन्ति नो**' भाव कि मन-तन शीतल होकर श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपको पावेंगे। वासना घोर किरणें हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'*ते संसार पतंग—*' इति। यहाँ श्रीरामजीके शरीरसे पृथक् सत्तावान् समष्टि-संसारको सूर्य कहा है और उसके व्यष्टिरूप नानात्वको किरण। जगत् दस दिशामय कहा जाता है, नानात्वमें उसकी दस दिशाओंको भी मानसकारने दिखाया है; यथा—'*जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी।*' (५। ४८) इसमें जननी आदि दस गिनाये गये हैं। इन्हें स्वतन्त्ररूपसे उपकारी मानकर जो जीव इनमें ममतारूप तागोंमें बँधा हुआ है, वह जब इन सबको श्रीरामजीके

शरीररूपमें जानेगा, तब इन सबके द्वारा हुए उपकार श्रीरामजीके निश्चित होनेपर इन सब (व्यष्टि जगत्) से ममता हटाकर श्रीरामजीमें ही दृढ़ प्रीति करेगा, क्योंकि इन्हींने सब रूपोंसे पालन-पोषण आदि उपकार किये हैं, इस ज्ञानपर वह ममता यहाँ एकत्र होगी, यही डोरीका बटना है। फिर किसी भले-बुरे कार्यके सम्बन्धका कोई भी मित्र-शत्रु न रह जायगा, समदर्शित्व अनायास रहेगा। तब राग-द्वेष आदि अग्निमय दोषोंकी ज्वालासे यह नहीं जलेगा।

वही चराचरात्मक अज्ञान-दृष्टिसे श्रीरामजीसे पृथक् देखनेपर सूर्यकी तरह ममतारूपी तीक्ष्ण किरणोंद्वारा त्रिविध तापोंसे जलानेवाला है। यथा—'*सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो॥*' (वि० २४३), '*जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देहके दाहक गाहक जीके॥*' (वि० १७६)

नोट—किष्किन्धाकाण्ड दोहा ३० में बताया जा चुका है कि प्रत्येक काण्डके अन्तमें जो फलश्रुति है वही उस सोपानका नाम है। इस तरह पिछले सोपानोंके क्रमशः नाम ये हैं—'सुख-सम्पादन, प्रेम-वैराग्य-सम्पादन, विमलवैराग्य-सम्पादन, विशुद्ध सन्तोष-सम्पादन, ज्ञान-सम्पादन विज्ञान-सम्पादन। इसी तरह इस सप्तम सोपानका नाम फलश्रुतिके अनुसार 'अविरल हरिभक्ति-सम्पादन' है। ये सातों सोपान श्रीरघुपतिभक्तिके मार्ग हैं, यथा—'*एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगत केर पंथाना॥*' (१२९। ३) धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे सन्तोष, सन्तोषसे ज्ञान, ज्ञानसे विज्ञान होता है और विज्ञानका फल हरिभक्ति है।

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः, श्रीभरद्वाजाय नमः, श्रीयाज्ञवल्क्याय नमः, श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः, श्रीगरुडाय नमः, श्रीभुशुण्डिचरणकमलेभ्यो नमः, श्रीहनुमते नमः, श्रीगुरवे श्रीरूपकलादेव्यै नमः, सशक्ति श्रीभरताय नमः, सशक्ति श्रीलक्ष्मणाय नमः, सशक्ति श्रीशत्रुघ्नाय नमः, श्रीसीतारामाभ्यां नमः, श्रीसन्तभगवन्तचरणकमलेभ्यो नमः, श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धोः श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये॥

'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो।'

हे प्रभो! यह आपकी वस्तु आपको ही अर्पण है, इसे स्वीकार करें।

श्रीसन्तभगवन्तगुरुकरकमलार्पणमस्तु　　। जय जय सीतारामकी। जय बोलो हनुमानकी॥

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख चाहहिं जो गति लहहीं॥
अबिरल भक्ति विशुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत योगीश मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
सोइ भक्ति गति रहनि सोइ सोइ प्रभु चरण सनेहु। सोइ बिबेक सुख सुमति सोइ सोइ सत्संगति देहु॥
सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती॥
मनकी सकल मलिनता भागै। सीताराम चरण लौ लागै॥
पद पङ्कज राजैं मन माहीं। रहउ सदा चित चरनन्हि पाहीं॥
बार बार माँगउँ कर जोरे। बसहु राम सिय मानस मोरे॥
चहौं न सुमति सुगति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥
बार बार माँगौ कर जोरें। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे॥

श्रीरामायणजीकी आरती

आरति श्रीरामायनजी की। कीरति कलित ललित सिय पी की॥

गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद। बालमीक बिग्यान बिसारद।
सुक सनकादि सेष अरु सारद। बरनि पवनसुत कीरति नीकी॥ १॥

गावत बेद पुरान अष्टदस। छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस।
मुनि जन धन संतन को सरबस। सार अंस संमत सबही की॥ २॥

गावत संतत संभु भवानी। अरु घटसंभव मुनि बिग्यानी।
ब्यास आदि कबिबर्ज बखानी। कागभुसुंडि गरुड के ही की॥ ३॥

कलिमल हरनि बिषय रस फीकी। सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की।
दलन रोग भव मूरि अमी की। तात मात सब बिधि तुलसी की॥ ४॥